केम ॥ वै० ॥ ६ ॥ जीव दया पाले हो पग पग दिन समे, वरजे रात्री विहार। एक काय हणतो हो त्रस थावर हणे, लहे दुर्गति अवतार ॥ वै० ॥ ७ ॥ तप जप करणी हो दुःख हरणी करे, निरमम निरहंकार। सवेगी सोभागी हो चन्द जिम निरमलो, पहोंचे मुगति मझार ॥ वै० ॥ ८ ॥ छट्ठो अतिमीठो हो लागे वांचतां, भलो धरमारथ काम। नामे सुख पामे हो जयतसी आतमा, उल्लसे मन परिणाम ॥ वै० ॥ ९ ॥ इति ॥ छट्ठे अध्ययन की सज्झाय सम्पूर्ण ॥ ६ ॥

अथ सातवें अध्ययन की सज्झाय (७) विणजारा नी देशी ॥

साधु बुझे रे, भाषा सुमति विचार, भाषा चिहु भेदे कही, साधु बुझे रे। साधु बुझे रे, सचा असचा मीश्र, असचामोस चौथी सही, साधु बुझे रे ॥ १ ॥ साधु बुझे रे, बोले निरवद्य वाण पहेली ने चौथी वली, साधु बुझे रे ॥ साधु बुझे रे, भाषे न भाषा दोय, बीजीने तीजी टली, साधु बुझे रे ॥ २ ॥ साधु बुझे रे, निश्चे कठिन कठोर, सकित सावद्य संभवे, साधु बुझे रे ॥ साधु बुझे रे, जिणथी लागे पाप, तेहवी वाणी न बोलिये, साधु बुझे रे ॥ ३ ॥ साधु बुझे रे, चोरने न कहे चोर, न कहे कांणो कांणा भणी, साधु बुझे रे ॥ साधु बुझे रे, पर पीडा हुवे

जेण, वाणी तेह न बोलावणी, साधु बुझे रे ॥ ४ ॥ साधु बुझे रे, न कहे असाधुने साधु, साधुने साधु बोलाविजो, साधु बुझे रे। साधु बुझे रे, सुरनर तिरिहा जीव, कहीं भी दोष म लावजो, साधु बुझे रे ॥ ५ ॥ साधु बुझे रे, वक्कसुधी अज्झयण, बोल घणां छे सातमें, साधु बुझे रे ॥ साधु बुझे रे, लागे तिणथी दोष, न पडे तू इण बात में, साधु बुझे रे ॥ ६ ॥ साधु बुझे रे, दशविध बोले साच, अरिहंत आज्ञा छे इसी, साधु बुझे रे ॥ साधु बुझे रे, पुन्यकलश गणि शिष्य, सूत्ररागी भणे जैतसी, साधु बुझे रे ॥ ७ ॥ इति सातवें अध्ययनकी सज्झाय सम्पूर्ण ॥ ७ ॥

अथ आठवें अध्ययन की सज्झाय ॥

पुरोहितीयारी। प्राणी थारो आउखो तूटाने सांधो कोई नहीं रे ॥ ए देशी ॥

श्रीजिनवर गणधर मुनिवर ने कहे रे, हिंसा टालीने दया पाल रे। जूजूवा जीव जाणी छ कायना रे, पग पग जयणा करी चाल रे ॥ श्रीजि० ॥ १ ॥ टाले मुनि सूक्ष्म आठ विराधना रे, छोडी मद मच्छर परमाद रे। तप जप खप करी काया सोखवी रे, जीपे इन्द्रिय विषय स्वाद रे ॥ श्रीजि० ॥ २ ॥ जरा जां न करे देहिजोजरी रे, न वधे रोगपीडा घट मांहि रे। इंद्रिय हीण न पडे ज्यां लगी रे, त्यां लगे करे धर्म उच्छांहि रे ॥ श्रीजि०

॥ ३ ॥ क्रोधे वैर वधे घटे प्रीतडी रे, माने विणसे विनयाचार रे। माया मित्राई बाले सरगमें रे, लोभे विणशे सब संसार रे ॥ श्रीजि० ॥ ४ ॥ ज्योतिष निमित्त सुहणां फल कहे रे, यन्त्र मन्त्र झाड़ा झुडी देही रे। कांमण डुमण औषध केलवी रे। किम तरशेने तारशे केम रे ॥ श्रीजि० ॥ ५ ॥ चित्र भींत न जोवे नारी चीतर रे, वाले लोचन जिम रवि तेज रे। हीणी खीणी वली सो वरसनी रे, तिहां पिण व्रतधर न धरे हेज रे ॥ श्रीजि० ॥ ६ ॥ कुकडी बचडा डरे बिल्ली थकी रे, ब्रह्मचारी नारी सु तेम रे। शिणगार शोभा षटरस खाईवा रे, ताल-पुट जहर करे जेम रे ॥ श्रीजि० ॥ ७ ॥ वसहि सयणासण पायपुंछणो रे, पडिलेहण ले लेवा जोग रे। धन्य धन्य मुनि ते चन्द सुरज समा रे, लहे सुख इहलोकने परलोक रे ॥ श्रीजि० ॥ ८ ॥ आचार पिणही नाम अज्झयणमें रे, आठमें सखर आचार विचार रे। सिद्धात साखे भापे जयतसी रे, सूत्र थी हो जो मुज निस्तार रे ॥ श्रीजिन० ॥ ९ ॥ इति आठवें अध्ययनकी सज्झाय सम्पूर्ण ॥ ८ ॥

अथ नवम अध्ययनकी सज्झाय (९) ओलंगडी २ सहेली श्री श्रेयांसनी रे। यहनी चाल छे ॥

ओलगडी २ करजे गीतारथ गुरु तणी रे, मान मोड़ मद छोड़। आसातना टाली नमीये पूजीये रे,

वंदीये बेकर जौड ॥ ओ० ॥ १ ॥ सिद्धांत २ सुणावे सखरा वांचने रे, बुझे अरथ विचार। चन्द सूरज २ जिम गुरु सेवियै रे, विनय करी वार वार ॥ ओ० ॥ २ ॥ नवमें २ विनय समाहि अज्झयण में रे, नवा नवा अरथ विचार। उद्देसे २ चौथे थिवर वर्णव्यां रे, समाधि थांनक चार ॥ ओ० ॥ ३ ॥ पहिली २ विनय समाधि विधि भली रे, बीजी सूत्र समाधि। तीजी तप २ चौथी समाधि आचारनी रे, चार चार भेद आराधि ॥ ओ० ॥ ४ ॥ समाधि २ आराधे ते सुख सिद्धि लहे रे, पामे अमरपद टेव। बेकर जौडीने वांदे जयतसी रे, गुण-वन्त श्री गुरुदेव ॥ ओ० ॥ ५ ॥ इति नवम अध्ययन की सज्झाय सम्पूर्ण ॥ ९ ॥

अथ दसवें अध्ययन की सज्झाय (१०) राग मल्हार ॥

अरिहंत वचने दीक्षा आदरी जी, नारी वमन रस सुजाण। दशमो भिक्षु नाम अज्झयणमें जी, वम्यो न वांछे जाण ॥ अरि० ॥ १ ॥ पृथिवीने खीणे खीणावे नहीं जी, पीये न पावे शीत नीर। जाले न जलावे तेउकायने जी, वीजे न वीजावे समीर ॥ अ० ॥ २ ॥ छेदे न छेदावे तरु हरिकायने जी, वरजे बीज सचित्त। पचे न पचावे भोजन रसवती जी, त्रस थावर वध चित्त ॥ अरि० ॥ ३ ॥ पांच व्रत पाले पांच इन्द्री दमे जी,

गाम कटक सहे धीर। रहे शमसाणे पडिमा पडिवजे जी, तजे प्रतिबंध शरीर ॥ अ० ॥ ४ ॥ राग द्वेष मद मच्छर माया परिहरी जी, न करे विणज व्यापार। तजे तमासा हासी मश्करी जी, वाछे नहीं सत्कार ॥ अरि० ॥ ५ ॥ मर्म न दाखे धर्म भाषे भलो जी, वाचे सूत्र सिद्धान्त। आतम ध्याने आतमा उधर्यो जी, पामे परमपद अत ॥ अरि० ॥ ६ ॥ श्रीसयभव गणधर ए रच्यो जी, दशवैकालिक सूत्र। सखर आचार परूप्यो साधुनो जी, मनक तार्यो निज पूत्र ॥ अरि० ॥ ७ ॥ सवत सत्तरसे सत्तरोत्तर समे जी, वीकानेर मझार। पुन्यकलशगणि शिष्य जयतसी रे, गीत रच्यो सुखकार ॥ अरि० ॥ ८ ॥ इति दशवें अध्ययन की सज्झाय सम्पूर्ण ॥ १० ॥

अथ ग्यारहवीं सज्झाय ॥ धवल करे हिवे केल, अहोनिश क्रुवरसु रे। एहनी चाल ॥

दशवैकालिक सूत्र सुहामणो जी, रच्यो श्री सय्यभव स्वाम। अज्झयण २ व्यालु वेला दश हुवा जी, तिण दियो एहवो नाम ॥ दश० ॥ ऊपर ऊपर चुलिका बे रलियामणी जी, जिम मेरु गिरि शिरचूल। श्री मंधर २ स्वामी भणी जक्षिणी जी, सखर घात समूल ॥ दश० ॥ २ ॥ अठारे २ ठाणा हो पहिली चुलिका जी, जाणे चतुर सुजाण। हय गय २ वाहण रस अंकुश चढे जी, वसी हुवे तिम मुनि ठाण ॥ दश० ॥ ३ ॥

आराति २ निवारे हे विराति आदरे जी, लोपे नहीं निज लीक। तप जप खप किरिया करे आकरी जी, ते वन्दनीक पूजनीक ॥ दश० ॥ ४ ॥ चुलिका २ बीजी हो बोधवीज सम्पजे जी, बीजी न तीजी वात। मुनिवर समताभर संवरमेंजी, धरमे भीनीसाते धात ॥ दश० ॥ ५ ॥ संवेगी २ सौभागी वैरागी भलाजी, पाले निरमल शील। केवल दंसण वरी भवजल तरीजी, पामे अविचल लील ॥ दश० ॥ ६ ॥ सुणतां भणतां सिद्धान्त वांचतां जी, उल्लसे अंगोअंग। नव नव मंगल पुन्यकलश सदा जी, जयतसी जय जय रंग ॥ दश० ॥ ७ ॥ इति ग्यारहवीं चूलिका की सज्झाय सम्पूर्ण ॥ ११ ॥

॥ इति श्री दशवैकालिक सूत्र की सज्झाय सम्पूर्ण ॥

जब शय्यंभवने दीक्षा ली उस समय उनकी स्त्री गर्भवती थी, जिससे गर्भका समय पूर्ण होनेपर पुत्रका जन्म हु-
आ 'मनक' नाम रक्खा, जब वह बालक आठवर्षका हुआ तब अपनी माताको पूछा मेरा पिता कहांहै । मा-
ता बोली जब तू गर्भमेंथा तबसेही तेरे पिताने दीक्षालीहै, यह बात सुनकर बालकभी पूर्व पुण्यके उदयसे अ-
पने पिताके पासमें दीक्षालेनेका विचार करके माताके पाससे भागकर पिताकी तलास करने लगा । उस समय
शय्यभव आचार्य महाराज चंपा नगरीमें विचरतेथे, मनकभी चंपानगरी गया, उस समय आचार्य महाराज
बाहरभूमि (ठंडले) जातेथे। वहांपर रास्तामें मनक मिला, मनकने आचार्यमहाराजको वंदना की, मनकको देखकर
आचार्य महाराजको स्नेह उत्पन्न हुआ और आचार्य महाराजको देखकर मनकको स्नेहभाव उत्पन्नहुआ. आचार्य
महाराज ने पूछा तू कहासे आयाहै, किसका पुत्रहै, मनकने कहा मैं राजगृह नगरीसे आयाहूं शय्यंभव ब्रा-
ह्मणका पुत्रहूं, मेरे पिताने दीक्षालीहै, तब फिर आचार्य महाराज ने पूछा तू यहां किस कामके लिये आयाहै,
मनक ने कहा मेरे पिताकी तलास करनेके लिये आया हूं, मैं भी उनके पासमें दीक्षा लूंगा, आप मेरे
पिताको जानते हैं वो कीधर हैं । आचार्यने कहा हां मैं जानता हूं मेरेशरीररूप एक मित्र हैं, यानेमैं ही हूं.

तुम मेरे पास दीक्षा लो परंतु अपने पिता-पुत्रका संबंध किसी से नहीं कहना, मनक ने मंजूर किया, उपाश्रयमें आकर आचार्य महाराज ने मनक को दीक्षा दी. फिर एक समय ज्ञानसे उपयोग दिया कि इसकी आयु कितनीहै तब सिर्फ छः मास का आयु मालूम पडा, आचार्यने विचारा इतने अल्प आयुमे यह अल्प बुद्धिवाला बालक बडे बडे सूत्र कैसे पढ सकेगा, किस प्रकार आत्मा का कल्याण करेगा. फिर विचार आया कि कारण पडने पर चौदह पूर्वधर या दश पूर्वधर थोडेसे में साररूप वस्तुका उद्धार करतेहैं। तो मेरेको भी इस बालकका अल्प समयमें कल्याण कराने रूप कारण पडाहे इसलिये मैंभी पूर्वोंमें से साररूप सूत्रका उद्धार करूं। यह विचार कर उद्धार करना शुरूकिया, अर्थात्--संक्षेपमें सूत्र रचना करने लगे तब शामको थोडासा दिवस बाकी रहते हुए विकाल वेलामें दश अध्ययन रूप सूत्रको पूर्ण किया इसलिये इस सूत्रका "दशवैकालिक" नाम पडाहे. इस सूत्रका मूलपाठ तथा अर्थ दोनोंको मनक मुनिने कंठस्थ करलिये। और इसके अनुसार शुद्ध संयमका पालन करके छः महीनों की थोडी आयुमेंही अपना आत्म कल्याण किया. मनक मुनि आयु पूर्ण करके स्वर्गमें गये बाद फिर आचार्य महाराज इससूत्रको पीछा पूर्वोंमें मिला देने लगे तब सब संघने आचार्य महाराजको

विनयपूर्वक निनंती की कि यह सूत्र पचमकालके अल्प आयुवाले और अल्प बुद्धिवाले जीवोंको वडा उपकार करने वाला होगा इसलिये इस सूत्रका पठन पाठन साधुओंमें शुरू रखना चाहिये । तवसे आचार्य महाराजने सव साधु-साध्वियोंको यह सूत्र पढनेकी आज्ञा दी, जिससे अभी तक सर्व साधु-साध्वी इस सूत्रको पढते हैं । पहिलेके समयमें दीक्षा लेनेवाले प्रथम आचाराग सूत्र पढकर फिर अन्य सूत्र पढतेथे परंतु अव प्रथम से ही यह दशवैकालिक सूत्र पढकर फिर अन्य सूत्र पढतेहैं। यह सूत्र संक्षेप और सरल होनेसे वडा उपकारक हे और इसी कारण से इसका प्रचार विशेष है ।

कितनेही महाशय नदी सूत्रमें सवसूत्रोंके नामोंमें इस सूत्रका नाम देखकर इससूत्रको शय्यभवसूरिजी महाराजका वनाया हुआ माननेमें शका लाकर खास गणधर महाराज का वनाया मानते हैं । परंतु जैसे जीवाभिगम, जबूद्वीपपन्नत्ति, पन्नवणा आदि सूत्र पूर्वधरों के वनाये हुए हैं तो भी जव श्रीदेवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण आदि जैनाचार्योंने सूत्रोंको पुस्तकरूप पानोंमें लिखे उस समय जितने सूत्र विद्यमानथे उन सवका नाम नदीसूत्रमें लिखदिया गया और सूत्रोंको संक्षेपमें लिखनेके लिये ही तथा एक विपयको एक सूत्रमें लिखकर दुसरे

सूत्रमें उस विषयके प्रसंगपर उस सूत्रकी भोलावण दे दी है इसलिये भगवती आदि सूत्रोंमें जगह २ पर पन्नवणा, जंबूद्वीप पन्नत्ति आदिकी भोलावण देखनेमें आतीहै, जिसपरभी पन्नवणा आदि सूत्र पूर्वधरोंके बनाये हुए मानतेहैं। इसी तरहसे दशवैकालिक सूत्र को भी शय्यंभवसूरिजीका वनाया माननेमें किसी तरहकी शंका लाना योग्य नहीं है। और दूसरी बात यहभीहै कि--इस सूत्रकी २२०० वर्ष हुए श्रीभद्रबाहुस्वामिने निर्युक्ति बनाई थी, उस निर्युक्तिमेंही जब कि शय्यंभवसूरिजी महाराज पहिले गृहस्थ अवस्थामें जिनप्रतिमाको देखकर प्रतिबोध पाये तब दीक्षा लेकर चौदह पूर्वधर आचार्य हुए बाद मनक मुनिके लिये इस दशवैकालिक सूत्रका उद्धार किया, ऐसा साफ २ लिखाहै, तब अपनी कल्पना मात्रसे या मतपक्षसे शय्यंभवसूरिजीका बनाया नहीं मानना यहतो प्रत्यक्षही अनुचितहै। अब मूल सूत्र की प्रथम गाथा का भावार्थ बतलाते हैं:—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो। देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥

भावार्थः—संसारमें मिथ्यात्व, अज्ञान, अव्रत, विषय, कषाय, आरंभ आदि से पाप कर्म करके दुर्गतिमें पडतेहुये प्राणियोंको धारणकरे (बचावे) और दया-दान आदिसे शुभ पुण्यानुबंधी पुण्यकी वृद्धिकरके शुभ

गतिमें पहुचावे उसको 'धर्म' कहते हैं। यही धर्म सर्व कार्योंमें सबसे उत्कृष्ट मगल रूप है। और धर्मसेही मुक्ति की प्राप्ति होती है इसलिये इस सूत्र की प्रथम गाथा में धर्मका ही स्वरूप और धर्मकी ही महिमा बतलाई है. अहिंसा, याने–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति यह एक इन्द्रीवाले पांच प्रकारके स्थावर जीवोंकी तथा चार प्रकारके त्रसजीव; याने–कीडे आदि दो इन्द्रीवाले, जू-कीडी आदि तीन इन्द्रीवाले, मक्खी-मच्छर आदि चार इन्द्रीवाले और पशु-पक्षी-मेंडक-मच्छ-मनुष्य आदि पांच इन्द्रीवाले यह नो प्रकारके सबजीवोंकी हिंसा अपने से करना नहीं, दूसरोंसे करवाना नहीं और दूसरे हिंसा करते हो उनकी अनुमोदना (अच्छा समझना) नहीं, यह २७ भेद हुए, इन २७ भेदोंको मन-वचन-कायासे गिननेसे ८१ भेद होते हैं, इन ८१ भेदोंमेंसे किसी भेद से भी किसी जीवकी हिंसा नहीं करना, अर्थात्–सबजीवोंकी रक्षा करना, दया पालना यही सबसे श्रेष्ठ धर्म है, यह पूर्ण अहिंसा धर्मका पालन सयम और तपसेही हो सकताहै; इसलिये अब 'संयम' का स्वरूप बतलाते हैं। सत्तरह प्रकारका सयम, याने–प्राणातिपात (जीवहिंसा करना) १, मृषावाद (झूठबोलना) २, अदत्ता-दान (मालिक के विना दिये कोईभी वस्तु लेना) ३, मैथुन (मनुष्य–तिर्यंच-देवोंकी स्त्रियों से काम-भोग

करना) ४, और परिग्रह (द्रव्यादि) का संग्रह करना यह पांच कार्य कर्म बंधनके हेतुरूप पंच आश्रवों का त्याग करके पांच महाव्रतोंका पालन करना ५, तथा पांच इन्द्रियोंको वशकरना, याने;—स्पर्शनेंद्री (शरीर), रसेन्द्री (जीभ), घ्राणेंद्री (नाक), चक्षु इन्द्री (आंख) और श्रोत्रेंद्री (कान) इन पांच इन्द्रियोंके विषयोंमें अच्छी वस्तुपर रागकरना व खराब वस्तुपर द्वेषकरना, इसप्रकार राग-द्वेषको छोडकर पांच इन्द्रियोंको वशमें करना १०, तथा क्रोध-मान-माया-लोभ इनचार कषायोंकोभी जीत लेना १४, और मन-वचन-कायाके दंडसे दूर रहना, अर्थात् मनमें संकल्प-विकल्प, आर्त्तध्यान-रौद्रध्यानसे खराब विचार करनेसे तथा वचनसे खोटे वचन बोलनेसे और काया (शरीर) से चलना-बैठना-सोना आदि से जो अनेक जीवोंकी हानि होती है उससे आत्माको मन वचन- कायासे कर्म बंधनरूप दंड मिलताहै और दुःख प्राप्त होताहै; इसलिये इन तीनों दंडों से दूर रह कर मन वचन कायाको शुभ उपयोग पूर्वक धर्ममें लगाना, यह १७ प्रकारका संयम पालन करनेसे आत्माके साथ जो समय २ कर्मोंका बंधन होताहै वह रुक जाताहै परंतु अनादिकाल से पहिले के कर्म बंधन हो चुके हैं वह तो तपश्चर्या करनेसे क्षय होते हैं। इसलिये अब बारह प्रकारका 'तप' बतलाते हैं:—

"अणसण मूणोयरिया, वित्ती सखेवण रसच्चाओ। कायकिलेसो संलीणयाय, वज्झो तवो होई ॥१॥
पायच्छित्त विणओ, वेयावच्च तहेव सज्झाओ। ज्झाण उस्सग्गो विअ, अब्भितरओ तवो होई ॥२॥"

भावार्थः— बारह प्रकारके तपमें प्रथम 'अनशन' याने-अन्न, जल, खादिम (दूध-फलादि), स्वादिम (लौंग एलाइची वगैरह मुख वासकी वस्तु) यह चार प्रकारका आहारसे जैसे २ शरीरको पुष्ट करते हैं, वैसे २ ही आरंभ-कषाय-प्रमाद-राग-द्वेष आदिसे कर्म बंधन विशेष होतेहैं, जिससे जितना २ आहारका त्याग होगा, उतना २ ही कर्म बंधन कम होकर अप्रमाद दशासे धर्मसाधन विशेष होगा इसलिये अपने २ शरीरकी व मनकी शक्ति मुजब १—२ रोजके उपवास या ज्यादा-कम समयतक अन्न जल आदिका त्याग करना अथवा रोग, वृद्ध अवस्था या सिंह-अग्नि-जल आदि बडे उपसर्गादि कारणों में अपना अन्तसमय समीप मालूम पडे तो जाव-जीव (यावत् जीवन पर्यंत) आहारका त्यागकरके धर्मध्यान में लीनरहना उसको अनशन तप कहतेहैं इसके अनेक भेदहैं, इसका विशेष अधिकार इसी सूत्र की बडी टीका आदि शास्त्रों में से देख लेना या गुरुके पाससे समझ लेना ॥१॥ दूसरा 'उणोदरी' याने—वस्त्र-पात्र आदि उपधि (सामग्री) से अपना कार्य चल सके उसमें भी

कम रखना या सर्वथा आहारका त्यागकरना नहीं बनसके तो अपनी भूख तृषा से कम खाना पीना अथवा राग-द्वेष क्रोधादिको कम करना उसको ऊणोदरी तप कहते हैं ॥२॥ तीसरा 'वृत्तिसंक्षेप' आजीविका कम करना, याने—गृहस्थोंको जितना २ अधिक व्यापार होताहै उतना २ ही अधिक प्रपंच और आरंभ-समारंभ बढताहै जिससे जितना व्यापार होवे उसमेंभी कम करते रहना तथा रसोडामें भोजन सामग्रीमें स्वादके लिये बहुत वस्तु बनानेमेंभी कम बनाना और वस्त्र-वाहन-मकान-द्रव्यादिकोभी कम रखना जिससे कर्म बंधन कम होवे और साधु-साध्वियोंकोभी आहारादिमें द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अभिग्रह (नियम) धारण करने, याने-द्रव्यसे अमुक प्रकार का आहारमें इतनी वस्तु मिले तो लेना १, क्षेत्रसे पांच-सात घरोंमें अमुक जगहमें मिलेतो लेना २, कालसे बारह बजे या अमुक समयमें मिले तो लेना ३. और भावसे कुमारिका या अपनी धारण मुजब अवस्था वाला देवे तो लेना, यदि वैसा संयोग न मिले तो उस रोज आहार न लेना; उपवास आदि तप करना ४, इस प्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावसे नियम लेकर आहार-वस्त्र आदिकी आजीविका को कम करना उसको वृत्तिसंक्षेप तप कहतेहैं ३। चौथा 'रसत्याग' याने दूध-दही-तेल-घृत-मिष्टान्न वगैरह पुष्टिकारक वस्तु अधिक खानेसे-

विपय-विकार-उन्माद आदि दोष अधिक बढतेहैं, जिससे इन वस्तुओंको यथाशक्ति कम खाना या १--२ दिन या इच्छा मुजब अधिक समय तक त्याग करना, जिससे इन्द्रियोंका दमन होने पर शांतिसे धर्मसाधन होसके, इसको रसत्याग तप कहतेहैं । ४ । पांचवां 'कायक्लेश' याने—जैसे २ शरीर सुकुमाल बनताहै वैसे २ निंद्रा-विकथा--प्रमाद--कमजोरी आदि दोप बढते जातेहैं, इसलिये कायोत्सर्गसे, केश लुंचन (लोच) करनेसे, पद्मासनादिसे या ठंढ--धूप—भूख--तृषा— आदि से जैसे २ शरीरको कष्ट देकर वशमें किया जायगा वैसे २ ही निंद्रा वगैरह दोप नष्ट होकर धर्म कार्यमें, जप, ध्यान आदि में विशेप उद्यम होसकेगा इसलिये इसको कायक्लेश तप कहतेहैं । ५ । छट्ठा 'सलीनता' याने,—शरीरकी चपलतासे हाथ—पैर--नेत्र आदिको फिरानेसे या इधर--उधर भटकने से मनकी चंचलता होकर व्यर्थ सकल्प विकल्पसे दुर्ध्यान बढता रहताहै; जिससे शरीरके हाथ-पेर आदि अंग—उपोंगोंको मर्यादा पूर्वक स्थिर रखनेसे मनकी चचलता कम होकर मन शुभ ध्यानमें गति करताहै तथा पांचों इन्द्रियोंपर राग—द्वेप न करना इसको इन्द्रिय संलीनता कहतेहैं । ऐसेही क्रोधादि कपायोंको उदयमें नहीं आने देना, यदि उदयमें आयें होतो रोकदेना (निष्फल करना) इसको कपाय संलीनता कहतेहैं ।

ऐसेही मन—वचन—कायाकी अशुभ गतिको रोककर शुभें कार्यमें गति करना इसको योग संलीनता कहतेहैं। और पशु—पक्षी—स्त्री— नपुंसक—जुआरी—व्यभिचारी—भांड—नटवे आदिसे रहित व शांति पूर्वक धर्म ध्यान सुखसे होसके, वैसे स्थानमें ठहरना तथा पाट पाटले—शय्या वगैरह निर्दोष होवें उनकोभी कम वापरना इसको विविक्तचर्या संलीनता कहतेहैं। इसप्रकार इन्द्रीय—कषाय—योग और विविक्तचर्या की संलीनताको संलीनता तप कहतेहैं। ६। यह छ प्रकारका तप करनेवालेको अन्य लोग जान सकतेहैं, देखभी सकतेहैं और अन्य दर्शनी भी कुछ कर सकतेहैं; इसलिये इसको बाह्य तप कहतेहैं।

अब छ प्रकारका अभ्यंतर तप बतलातेहैं;—प्रथम 'प्रायश्चित्त' याने;—इस संसार चक्रमें कर्मवश जीव अनेक प्रकारके पापकर्म करलेताहै, उसको योग्य, गंभीर और गीतार्थ (सर्व शास्त्रों को व द्रव्य—क्षेत्र—काल—भावको जानने वाले) सुगुरुके पासमें सरल दिलसे साफ २, सत्य २ और जिस २ रीतिसे पापकर्म कियाहोवे उसी रीतिसे अनुक्रमसे सब कहदेना जिससे उस पापका जो प्रायश्चित्त (तप—जप करनेरूप आलोयणा) गुरु महाराज बतलावें, उसको शुभ भावसे पूरा करनेसे, कियेहुए अशुभ कर्मोंका नाश होकर चित्तकी शुद्धिसे

आत्मा पवित्र होतीहै, इसको प्रायश्चित तप कहतेहैं १ । दूसरा 'विनय' याने- ज्ञान—दर्शन—चारित्र—आचार्य—गुरु—आदिका शुद्धभाव सहित भक्तिपूर्वक विधियुक्त विनय करना । जिस तरह जव कभी कारण वश राजा-महाराजा गृहस्थोंके घरजातेहैं, तव गृहस्थलोग राजादिको दूरसे अपने घरमें आते हुए देखकर खडे होते हैं, सामने लेनेको जातेहैं, हाथ जोडतेहैं, बैठनेको आसन देतेहैं, अपने बैठनेका आसन छोडकर उनके सामने खडेरहतेहैं, नमस्कार-स्तुति आदिकरतेहैं और उन्होंकी आज्ञा मुजब शीघ्र कार्य करतेहुए सेवाभक्तिसे सतोषित करके जव पीछे जावें, तव थोडी दूरतक पहुँचानेको जातेहैं। उसीप्रकार राजा-महाराजा-इन्द्रादिक के भी पूज्यनीक पंच महाव्रत धारी, शुद्धसंयमी गुरु महाराज जव गृहस्थोंके घरमें आहारादि के लिये आवें या अपने शिष्यादि साधु साध्वियोंके ठहरनेके उपाश्रयमें कारणवश आवें तव गुरु महाराजको या आचार्यादि वडे पुरुषोंको आतेहुए देखतेही खडेहोजाना, सामने लेनेको जाना, हाथजोडना, उनके योग्य उचित आसन लाकर बैठनेकी विनति करना, अपने बैठनेका आसन छोडकर उनके सामने खडेरहना, वंदन—पूजन—स्तुति—सत्कार—बहुमान करना तथा गुरुकी इच्छामुजब आहार-वस्त्र-पात्र-औषधि आदिसे यथायोग्य अपनी शक्ति अनुसार सेवाभक्ति कर

के जब गुरु पीछे जावें तब थोडी दूर पहुंचानेको जाना, इत्यादि गुरुका विनयकरना. कभी साधु-साध्वी या श्रावक श्राविका आंबिल-एकासनादि तपमें आहार (भोजन) करतेहोवें, उससमय गुरुमहाराज आवेंतो गुरु के विनयकेलिये भोजन करना छोडकर उसी आसनपर तत्काल खडे होनाचाहिये। फिर गुरुके गये बाद बैठकर भोजन करनेमें कोई दोष नहीं हैं। इस लिये पच्चक्खाणके पाठमें "गुरु अब्भुट्ठाणे णं" ऐसा आगार (नियम) रक्खाहै।

तथा मति-श्रुति-अवधि-मनपर्यव और केवलज्ञान इन पांच ज्ञानोंका स्वरूप समझना, श्रद्धा रखना, बहुमान सहित ज्ञानके गुणगाना, आगमादि शास्त्रोंको अपनी बैठकसे ऊँचे आसनपर रखने वगैरहसे ज्ञानका और ज्ञानीका विनय करना सो ज्ञान विनय कहलाता है।

तथा सम्यग्दर्शनके ६७ भेदोंको समझना, संसारी जीवोंको बोधिबीज (सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति होनेका कारणभूत रथयात्रादिसे शासनकी प्रभावनाकरना, करवाना, करतेहों उनकी अनुमोदना करना और मिथ्यात्व, अज्ञानरूप अंधकारको दूरकरके सम्यग्दर्शनादिके स्वरूपको बतलाकर भव्यजीवोंको मोक्षकामार्ग दिखलाकर उपकार करनेवाले, तीर्थंकर-गणधर-केवलज्ञानी आदिको श्रद्धाभक्ति सहित वंदनाकरना, इनके गुणोंकी स्तुति

आदिसे दर्शनका विनय करना सो दर्शन विनय कहलाता है।

और सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसंपराय-यथाख्यात यह पांच प्रकारके चारित्रकी भक्ति करना, गरीव अनाथ-राकभी चारित्र ग्रहण करलें तो राजा-महाराजा-इन्द्रादिके पूज्यनीय होतेहैं इसलिये जाति-कुल-ऋद्धि-परिवार आदिका अभिमान न करते हुए चारित्र लेनेवालोंके पैरों में मस्तक लगाकर भाव सहित नमस्कार करना, उनके गुणोंको लोगोंके सामने प्रकट करके उनकी महिमा वढाना, चारित्रके उपकरण आदिसे सव तरहकी सहायता देना सो चारित्र विनय कहलाता है।

तथा अशुभ विचारसे मनको हटाकर परउपकार वैराग्य आदि विनयके शुभकार्यमें लगाना सो मन विनय। ऐसेही वचनका अशुभ व्यवहार छोडकर विनयके शुभ व्यवहारमें लगाना सो वचन विनय और कायासे अशुद्ध व्यवहार रोककर विनयका शुभ व्यवहार करना सो काय विनय। इस प्रकार तीर्थंकर-गणधर- धर्माचार्य आदिकी, सेवा शुश्रुपा पूर्वक ज्ञान, दर्शन, चारित्र का मन-वचन-कायासे विनय करना उसको विनय तप कहतेहैं।

गुरु आदिका विनय करनेसे अभिमानका त्याग होताहै। और गुरुकी सेवाका फल (लाभ) मिलता है,

गुरुकी सेवासे श्रुतज्ञानका लाभ मिलताहै, श्रुतज्ञानसे विरति (चारित्र) का फल मिलताहै, चारित्र आनेसे जीवहिंसा आदि कर्म बंधनका हेतुरूप आश्रवका निरोध (त्याग) रूप फल मिलताहै, आश्रव त्याग करनेसे पांच इन्द्रियोंको वश करनेरूप संवर होनेका फल मिलता है, संवर होनेसे तप करनेका लाभ मिलताहै, तपस्या करनेसे कर्मोंकी निर्जरा होनेका फल मिलताहै, कर्मोंकी निर्जरा (कर्मों का नाश) होनेसे मन-वचन-कायाकी क्रियानिवृत्ति (त्याग) होतीहै, (याने १३ वाँ गुण स्थानकमें पहुंच कर केवलज्ञानकी प्राप्ति होतीहै), क्रिया निवृत्ति होनेसे १४ वें गुणस्थानमें पहुँचनेपर मन-वचन-कायाके योगरहित अयोगी दशा प्राप्त होतीहै, अयोगी दशा प्राप्त होनेसे संसार परिभ्रमणरूप भव परंपराका नाश होताहै, भव परंपराका नाश होनेसे मोक्ष मिलताहै, मोक्ष मिलनेसे जन्म-मरण-रोग- शोकादि शारीरिक दुःखोंसे रहित होकर अक्षय और अनंत आत्मिक सुख मिलताहे इसलिये सर्व गुणोंका स्थान; सब कल्याणोंकी परंपराका भंडार विनयहीहै ॥ २ ॥ तीसरा 'वेयावच्च' याने,-आचार्य, उपाध्याय, स्थविर (आचारांगादि सूत्रको-अर्थको जाननेवाले आगम स्थविर, चारित्र लिये को २० वर्षहुए हो वह पर्याय स्थविर, और ६० वर्षकी उमरवालेको वय [वृद्ध] स्थविर समझना), तपस्वी, रोगी, नईदीक्षा लेनेवाले

नव दीक्षित, कुल (एक आचार्यका परिवार), गण (गच्छका समुदाय), साधर्मी (एकसिंगाडे वाले), संघ (साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध सघ) और संघके धर्म साधनका आधारभूत जिनमंदिर-ज्ञान भंडार आदि इन सबकी यथायोग्य आहार-पानी-वस्त्र-पात्र-औषधि आदिसे सेवाकरना, पैर दावना, सत्थारा बीछाना वगैरह से वैयावच्च करना तथा श्रावक-श्राविकाओंके ऊपर कोई बडी आफत आई हो तो उसको तप तेज (लब्धि का प्रकाश), विद्या, मंत्र आदिके चमत्कारसे दूर करना, देश-कालानुसार अवसरके योग्य धर्मका उपदेश देकर धर्ममें दृढरखने और जिनमंदिरकी संभाल, ज्ञानकीवृद्धि व रक्षाभीकरना इत्यादि सबकी यथायोग्य अपनीशक्ति मुजब सेवाभक्ति करना इसको वैयावच्च तप कहतेहैं ३ । चौथा 'सज्झाय' याने-स्वाध्यायके पांचभेदोंमें प्रथम 'वाचना' गुरुमहाराजको विधिसे वंदनाकरके सूत्रकापाठ लेकर उसका अर्थभी सीख लेना, दूसरा 'पृच्छना' किसी सूत्रपाठमें या अर्थमें बराबर समझ नहीं पडी हो तो या कुछ शंका उत्पन्न हुई होतो विनय सहित वंदनापूर्वक दोनों हाथ जोडकर चैत्यवदन करने जैसे उत्कट आसनसे गुरुके सामने विदिशीमें बैठकर गुरुको पूछकर सूत्रका और अर्थका पूरा २ निर्णय करलेना, अपने दिलमें फिर न भूले वैसा पक्का जमालेना, तीसरा 'परावर्तना'

जो सूत्र पढा हो उसका उपयोग सहित वार वार पाठकर लेना, चौथा 'अनुप्रेक्षा' जितनासूत्र पढेहो उसकी तत्त्व चिंता करना, अर्थात्-सूत्रके अर्थको-भावार्थकों मनमें चिंतवन (याद) करते रहना। और पांचवा 'धर्मकथा' तीर्थंकर गणधरादि महामुनियोंके गुणानुवाद व उन्होंके चरित्रका कथन करना, लोगोंको सुनाना, तथा असार संसारसे वैराग्य (मोक्ष की इच्छा) उत्पन्न होवे वैसी धर्मकी देशना देना. इस प्रकार वाचना-पृच्छना-परावर्तना-अनुप्रेक्षा और धर्मकथा यह पांच प्रकारकी स्वाध्याय करनी इसको स्वाध्याय तप कहते हैं ४।

पांचवा 'ज्झाणं' याने-ध्यानके चार भेद; जिसमें प्रथम आर्त्तध्यान,अर्थात्-लक्षपति करोडपति-राजा-महाराजा होनेकी इच्छा करना तथा खान, पान, मकान, आसन, वाहन (गाडी–वग्गी–मोटर आदिकी स्वारी), तेल, अत्तर, सुगंध पुष्पमाला, स्त्री, पुत्र, कुटुंब, वस्त्र, आभूषण आदि अपने संसारिक सुखोंकी चाहना करना, उन्होंको मिलानेका उपाय करना, उनके मिलनेपर उनकी सार-संभालमें चित्त लगाये रहना तथा अच्छी वस्तु मिलने से राग करना और स्त्री-पुत्र-नौकर-पडोसी व अपने या कुटुंबवालोंके शरीरमें रोगादि अनीष्ट (दुःख देनेवाले) संयोग मिलनेसे अथवा स्त्री-पुत्रादि इष्टवस्तुका वियोग होनेसे रोना; चिंता करना; विलाप करना, द्वेष करना,

उसको आर्त्तध्यान कहतेहैं १ । दूसरा रौद्रध्यान, याने—अपना या अपने कुटुंबी आदिका विरोधी—द्वेषी-निं-दक-दुष्मण-विगाड करनेवाला वगैरहके पुत्र-स्त्री-धन-कुटुंब-व्यापार आदिका नाश होनेका विचार करना तथा गाय-भैंस-घोडा आदि पशु-पक्षी-नौकर वगैरहको अपना तुच्छ थोडासा स्वार्थके लिये क्रोधसे मार पीट करना, मजबूत दृढ बंधनसे बांधना, गालियें देना, खान पान की अंतराय देना, पशु-पक्षी-मनुष्यादि किसीकेभी बाल बच्चे आदि का वियोग करना तथा किसीकी निंदा करना, चौरी, व्यभिचार आदि किसी के भी गुप्त कर्मका मर्मभेद लोगों के सामने प्रकट करके फजेत (बदनाम) करना, ज्ञाति पंचायतसे या राजदंडादिसे दंड दिलवा-ना । और 'हम गृहस्थहैं,' हमारे व्यापार आदिमें पाप किये विना नहीं चलता ऐसा विचार करके या लोगोंके सा-मने भी कहकर लोभके वशमें होकर छल-कपट-विश्वासघात, तोल-माप या भावमें ज्यादे-कम करके ठगाई करना, निसुग (दयारहित) निर्दय परिणामसे कठोर हृदयवाला होकर महाआरंभ करना, जीवोंका छेदन-भेदन-दमन-ताडन-तर्जन-बंधन तथा वध (घात) करना, दूसरोंको कष्ट देकर ठगकर खुशी होना; बडे होशियार चा-लाक बनना, किसीसे कुछ अनबनाव (विरोध-झगडा) हो जावे तो जन्मभर अंतर में वैर (द्वेष) रखना, काम

पड जावे तो उसका नुकसान करनेकाही विचार रखना इत्यादि दूसरोंको दुःख देनेका विचार करना, दुःखदेना अन्यसे दिलवाना, दुःखदेने वालोंकी सहायकरना, अनुमोदना करना इसको रौद्रध्यान कहतेहैं ॥२॥ तीसरा 'धर्म ध्यान' इस के चारभेद जिसमें प्रथम आज्ञासंबंधी विचार याने-संसारमें राग-द्वेष-मोह-अज्ञान-काम-क्रोध आदि दोषोंसे स्वार्थवश प्राणी झूठ बोलतेहैं, ऐसे अज्ञानी उपदेशकोंके वचन सर्वथा सत्य नहीं होते, जिससे उनके कथनपर पूरा २ विश्वास नहीं आसकता, परंतु सर्वज्ञ, वीतराग, जिनेश्वर महाराजके उपर मुजब सब दोषों का नाश होकर केवलज्ञान प्राप्तहुए बाद भगवान्‌ने जगतके उपकारके लिये जीव-अजीव आदिका, धर्म-अधर्मका जो स्वरूप बतलायाहै उसमें किसी तरहका स्वार्थ या फरक नहीं है. ऐसा भगवान्‌के वचनोंपर दृढ विश्वास रखना व आज्ञा मुजब चलनेकी इच्छाकरनी उसको आज्ञा संबंधी ध्यान कहतेहैं १। दूसरा राग-द्वेष-क्रोधादि करनेसे क्रोधीप्राणी अपने शरीरको क्रोधके तापसे तपाकर हानि करताहै, दूसरोंकोभी तपाकर कष्ट पहुंचाताहै जिससे निंदा-अपयश-विरोध-कलेश-अपमान-मार-पीट-धनकी हानि आदि अनेक तरहके कष्ट इस भवमें भोगने पडतहैं और परभवमें नरक-तिर्यंच आदिमें अनंतवेदना भोगनी पडतीहै, यह अपने कियेहुए कर्मकाही फलहै, संसारमें

भटकते हुए अज्ञानवश क्या क्या निंदनीय अनुचित कार्य इस जीवने नहीं किये और उसके अशुभ फलभी क्या क्या नहीं भोगे, याने—यहांपर अनेक तरहकी विटंवना व परभवमें नरकादिके दु.ख अनंतवार भोगेहैं इस लिये क्रोध-मान-माया-लोभके अशुभ फलोंका विचार करके इसभवके परभवके हितकेलिये क्रोधादिका त्यागकरना इसको अपाय (कष्ट) संबधी ध्यान कहतेहैं २। तीसरा ससारमें जीवसव समानहैं जिसपरभी राजाको सुख, रकको दुःख, व्यवहारमें छोटेमें छोटे कीडी-कुंथुओ, वडा में वडा हाथी और सबसे बडे सुखी चक्रवर्ती-इन्द्रादिक के भी पूज्यनीक तीर्थंकर परमात्मा व सबसे बडे दु.खी नरकगतिके नरकवासी प्राणी, यह सब अपने २ किये हुए पुण्य पापका फलहै। पुण्यसे उच्चगति व सुख मिलताहै, पापसे नीचगति व दुःख मिलताहै। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे-जैसे २ शुभ या अशुभ कर्म पूर्वभवमें किये होवें, वैसे २ इस भवमें उदय आतेहैं। किसी वस्तुके खाने-पीनेसे, किसी गांव-नगरादिमें, किसीऋतुमें या किसीभी अवस्थामें अशुभ कर्मके उदयसे दुष्टका सयोग या रोगादि कष्ट आजावे तो शोक-चिंता-दीनता नहीं करना और शुभ कर्मके उदयसे निरोगता, स्त्री, कुटुंब धनादि मनोवांछित सुख मिलजावे तो हर्ष, अभिमान, वडाई नहीं करना किंतु शुभ-अशुभ कर्म फलके विपय संबधी वि-

चारकरते हुए समभाव रखना इसको विपाक संबंधी ध्यान कहतेहैं ३। अब धर्म ध्यानका चौथाभेद बतलातेहैं:— पुरुषके आकारसे असंख्य योजनके चौदह राजलोक प्रमाण संसार है, जिसमें एक २ स्थान में अनंत २ वार जन्म-मरण किये, ८४ लक्ष जीवायोनियोंमें एक २ जीवके साथ माता-पिता-पुत्र-पुत्री-स्त्री-शत्रु-मित्र. आदि नानाविध अनंत २ वार संबंध किये, अनेक तरहके दुःखभोगे तो भी धर्म किये विना संसार भ्रमण का अंत नहीं आया। तथा वस्तुकी उत्पत्ति होना, विनाश होना, स्थिर रहना यही जगतका स्वभावहै, जिस तरह सुवर्णका कभी कडा वना, कभी हार बना, कभी घडा (कुंभ कलश बना) ऐसेही कभी कुछ, कभी कुछ, इस प्रकार तरह २ के पर्याय बदलते रहतेहैं परंतु तत्त्वरूपसे सुवर्णका नाश नहीं होता। इसी तरहसे यह जीव-भी कर्मवश कभी नरकमें गया, कभी देवलोकमें गया, कभी मनुष्य, कभी पशु-पक्षी-स्त्री-पुरुष-रोगी-निरोगी आदि भिन्न२ अवस्था धारण करता हुआ संसारमें फिरताहै, जिससे नये२ शरीर उत्पन्न होतेहैं, नये२ रूप बनतेहैं, नाश होतेहैं परंतु जीवका नाश नहीं होता. और पांचवर्णवाले बादलोंके संयोगकी तरह संसारमें संयोग वियोग होते रहतेहैं; इसलिये पांच इन्द्रियोंके विषय-भोग-घर-कुटुंब-अपना शरीर आदिके उपर राग- द्वेष-मोह नहीं

करना चाहिये और देवलोक के देवविमान, नरकगतिके नरकावास, मनुष्य लोकके असख्य द्वीप-समुद्रोंके स्वरूप का विचार तथा उन्होंमें षट्द्रव्यकी गति-आगति, याने-जीव-पुद्गलका सयोग-वियोग होना इत्यादि लोक (जगत) के स्वरूप का विचार करके हमेशा वैराग्य भावसे रहना, इसको सस्थान संबंधी ध्यान कहतेहैं ४। इस प्रकार आज्ञा विचय, अपाय-विचय, विपाक विचय और सस्थान विचय यह धर्मध्यानके चार भेद बतलाये। अब शुक्लध्यान कहतेहैं.— चार कषायोंको, मनको वश करके जिसने धर्मध्यानमें ऐसा एकाग्र दृढचित्त लगाया हो कि जिससे भूत-प्रेत-राक्षस-सिंह-सर्पादि के महान काठिन कष्ट देने वाले प्रतिकूल उपसर्ग से तथा इन्द्राणी आदिके नाटक, हाव भाव, आलिंगन आदि बडे मोहक अनुकूल उपसर्ग से भी किंचित मात्रभी ध्यान से चलाय मान नहीं होसके और वज्र ऋषभ नाराच संघयण वाले मोक्षगामी होवें उनको धर्मध्यानके उत्कृष्ट अभ्याससे आत्म अनुभवके अपूर्व वीर्योल्लाससे शुक्लध्यान होताहे उससे ज्ञानावर्णी-दर्शनावर्णी-मोहनीय और अंतराय यह चार घनघाती कर्मोंका क्षयकरके केवलज्ञान-केवलदर्शन होता है, फिर वह धर्मका उपदेश देकर जगतके जीवोंका कल्याण करके मोक्षमें जातेहैं (यह शुक्ल ध्यान पचम कालके अल्प सत्त्वावाले प्राणी अभी नहीं करसकते) इस

शुक्ल ध्यानके चार भेदोंका गहन स्वरूप गीतार्थ ज्ञानीगुरु महाराजके पाससे समझ लेना उचित है।

अब आर्तध्यान आदिकी गति बतलाते हैं:—आर्तध्यानसे जीव मरकर तिर्यंचगतिमें जाताहै, रौद्र ध्यानसे नरकमें जाताहै, धर्मध्यानसे उत्तम शुद्ध, धर्मी कुलमें मनुष्य होता है या उत्तम देवगतिमें जाताहै और शुक्ल ध्यानसे मोक्षमें जाताहै। इस संसारमें सब जीवोंके आर्तध्यान—रौद्रध्यान समय २ लगा रहताहै उससेही कर्म बंधन होकर चार गतिमें भ्रमण करना पडताहै इसलिये धर्मी जीवोंको आर्त—रौद्र ध्यानका त्यागकर के धर्म ध्यानमें मनको हमेशा लगाना चाहिये, उससे कर्मोंका नाशहोकर परंपरा से मुक्ति की प्राप्ति होवे. इस प्रकार ध्यान तप कहा। अब काउसग्ग तप कहते हैं:— 'काउसग्ग' याने—द्रव्य—भावसे त्याग करने योग्य वस्तुका त्यागकरना, जिसमें द्रव्यसे शरीरकी सार—संभाल—शोभा—ममत्वकरनेका त्याग करना. अन्न-पानी-वस्त्र आदिका त्याग करना तथा धैर्यवान्, दृढ संयमवाला, गीतार्थ (देश-काल व शास्त्रोंका जाननेवाला), गच्छकी सार संभाल, दूसरोंको संभालकर आप गच्छको त्यागकरके गुरुकी आज्ञासे एकल विहारी होवे या गांव नगर उपाश्रय आदिका त्यागकरके वन-पर्वत आदिमें ध्यानमें खडे रहना और भावसे पांच आश्रव, चार कषाय, निंद्रा,

विकथा, प्रमाद, राग, द्वेष, आदि आठ कर्म बधनके हेतुसे चारगति संसारमें जन्म-मरण करनेके कारणोंका त्यागकरना अथवा आहार-पानी करना, चलना, बोलना, हाथ पैर हिलाना आदि त्यागकरके शरीरकी शक्ति मुजब शांतिपूर्वक धैर्यकेसाथ एक आसनसे बैठकर या खडे होकर काउसग्ग ध्यानमें रहना जिसमें षट्द्रव्य सबधी गति-आगति, जीव-पुद्गलका स्वभावका विचार या अरिहंत आदि पंच परमेष्ठिका मानसिक स्मरण (ध्यान) करना, उसको काउसग्ग तप कहतेहैं ६। यह ऊपर मुजब छ प्रकारका तप अन्यदर्शन वाले समझते नहीं तथा यथायोग्य मोक्षके लिये करभी सकते नहीं इसलिये इसको सर्वज्ञ शासनमें अभ्यतर तप कहतेहैं।

इस तरह १२ प्रकारका तप करने से कर्मबधके हेतु दूर होकर मन-वचन-कायाके शुद्ध व्यापारसे हमेशा शुभध्यान रहताहै जिससे पहिलेके बंधेहुए अनादि कालके सर्व कर्मोंका क्षय होताहै, उससे अनत ज्ञान, अनत दर्शनकी प्राप्ति होकर मुक्तिका अक्षय सुख मिलताहै। ऐसा अहिंसा, संयम और तपरूप उत्कृष्ट शुद्ध धर्ममें जिसका मन हमेशा लगा रहताहै उसको देवता भी नमस्कार करतेहैं, अर्थात्—रंक, राजा, महाराजा, इन्द्र, नार्गिद्र आदि तीन जगतके सब जीव जो धन और स्त्री आदिकी मोहमायामें फंसे हुए है, सर्व गृहस्थलोग जो पांच इन्द्रियों

के विषय-भोगके लिये जल-अग्नि-वनस्पति आदिके आरंभ (हिंसा), समारंभ (कष्ट पहुंचाने) में लगे हुएहैं इसलिये इनका त्याग कर सकते नहीं जिससे इन सब का त्याग करके सब जीवोंको अभयदान देनेवाले त्यागी निर्ममत्वी धर्मी आत्माके सब जगत दास बनकर सेवा करता है, इससे राजा-महाराजा-बलदेव वासुदेव चक्रवर्ती-इन्द्र आदि छोटे या बडे सब लोग विनय, भक्ति, आदर, सत्कार सहित, शुद्धभाव सहित त्यागी महात्माके चरणोंमें नमस्कार करते हैं। इसलिये सूत्रकार महाराजने कथन कियाहै कि ऐसे शुद्ध धर्मको ग्रहण करनेकी अपने मनमें हमेशा भावना रखने वाला अव्रति सम्यग्दृष्टिको या देशविरति श्रावककोभी इन्द्रादि नमस्कार करतेहैं तब फिर ऐसे धर्मको ग्रहणकरके भावसहित पालन करने वालोंको इन्द्रादि वंदना-नमस्कार सेवा भक्ति करें तो इसमें करनाही क्या ? यह धर्म रूप उत्तम कल्पवृक्षके इन्द्रादिकी पूजा-मान्यता तो पुष्प समानहै और सर्व कर्मोंका क्षय करके मुक्तिमें जानेरूप फलहै इसीसे यह धर्म सर्व प्राणियों के सेवा करने योग्य और ग्रहण करके पालन करने योग्य ही है।

मूलसूत्र—जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ॥ ण य पुप्फं किलामेइ, सोय पीणेइ अप्पयं ॥२॥ एमए

समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो ॥ विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणे रया ॥३॥ वयं च विर्त्ति लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ ॥ अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा ॥ ४ ॥ महुकारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया ॥ नाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो॥ ५ ॥ त्तिबेमि ॥१॥

भावार्थ—इससूत्रमें साधु-साध्वियोंका आचार वर्णन कियाहै, ऐसे उत्कृष्ट शुद्धधर्मके आचारको पालन करने वालोंकोभी अपने शरीरकी रक्षा किये बिना आत्माका साधन तथा धर्मका उपदेश नहीं होसकता और शरीर की रक्षा करनेकेलिये भोजन वस्त्रादिके लिये लोगोंको इस संसारमें अनेक तरहके आरंभ-समारंभके प्रपंच करने पडतेहैं जिससे साधुओंके लिये ऐसे प्रपंच किये विनाही निर्दोष भोजन (आहार) लेनेकी विधि (मर्यादा) भ्रमरके दृष्टांत पूर्वक बतलातेहैं—

जिसप्रकार भ्रमर वृक्षोंके पुष्पोंमें जाकर पुष्पोंके मकरंद (सुगंधित रसस्वाद) को मर्यादासे थोडा २ ग्रहण करताहै परंतु पुष्पोंको पीडा (तकलीफ) नहीं देताहै और अपनी आत्माको तृप्त (संतोषित) करलेता है ॥ २ ॥ इसीप्रकार साधुभी द्रव्यसे और भावसे परिग्रहसे मुक्त (रहित) याने;—नगदरुपैयोंका धन, चोवीश प्रकारका

धान्य, जमीन-बगीचादि क्षेत्र, दूकान मकान आदिकी सामग्रीकी वस्तु, चांदीके आभूषणादि, सुवर्ण तथा जौहरातके आभूषणादि, ताम्रादि धातु, दो पैर वाले पुत्र-पुत्री-स्त्री-दास-दासी आदि तथा चारपैर वाले हाथी, घोडे, गाय आदि यह नव प्रकारका वाह्य परिग्रह और भावसे मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, दुर्गच्छा, पुरुषवेदका उदय, स्त्रीवेदका उदय, और नपुंसकवेदका उदय, यह चौदह प्रकारका अभ्यन्तर परिग्रह. इसप्रकार तेईश (२३) प्रकारके परिग्रहको त्याग करने वाले और ढाई द्वीप (मनुष्यलोक) में रहकर धर्मका साधन करनेवाले जो साधु हैं, वहभी जैसे पुष्पों में फिरकर भ्रमर अपना प्रयोजन करलेता है, वैसेही साधुभी गृहस्थोंके घरोंमें उचित समय पर जाकर दातारांसे दियेहुए और अपने योग्य निर्दोष शुद्ध आहार-पानीकी गवेषणा (खोज-तपास) करनेके लिये हमेशा रक्त रहते हैं, याने— अप्रमादी होकर उपयोग पूर्वक सावधानीसे शुद्ध आहार लेनेके लिये घर २ में फिरने में तत्पर रहते हैं ॥ ३ ॥ कभी गृहस्थलोग साधुकी भक्ति के लिये आहार बनाकर देने लगें तो वैसा दोषवाला अशुद्ध आहार साधुको ग्रहण नहीं करना चाहिये, यही बात बतलाते हैं। जिस प्रकार भ्रमर दूसरोंके लिये उत्पन्न होनेवाले वृक्षोंके पुष्पोंमेंसे रस ग्रहण करता है परन्तु अपने

लिये वृक्षलगाकर पुष्पोंको उत्पन्ननहीं करता। उसी तरह साधुभी अपनी वृत्ति करते हैं, याने—साधुभी गृहस्थ लोगोंने अपने लिये बनायेहुए आहारमेंसे बहुत घरोंमें फिरता हुआ घर २ से लूखा सूखा जैसा मिले वैसाही थोडा २ आहार लेकर अपना निर्वाह करताहे परंतु छ. कायके जीवोंकी हानि होवे या कष्ट पहुंचे वैसा अपने लिये बनायाहुआ आहारको कभीग्रहण नहींकरताहे और ममत्व रहित होकर ईर्यासमिति सहित विचरताहे ॥ ४ ॥ इस प्रकार भ्रमरके समान उपमाको धारण करने वाले, तत्त्व स्वरूपको जाननेवाले, जाति, कुल, देश, परिचयवाले भक्तलोग आदि किसीकीभी सहायता रहित होकर अपने संयम धर्मको पालन करनेवाले तथा नानाविध पिंड रक्त, याने—अपरिचयवाले उचित घरोंमेंसे अल्प या रस बिनाका स्वाद रहित आहार लेनेमें उद्वेग (कटाला अप्रीति) नहीं लानेवाले और पाचों इन्द्रियोंको जीतनेवाले हों, उनकोही साधु कहना चाहिये, परंतु प्रमादवश, स्वादकेलिये; लोभसे जिव्हाके वशीभूत होकर पांचों इन्द्रियोंको पुष्टकरनेके लिये जीवोंकी घात करवाकर अच्छा २ आहार लेनेवाले अथवा स्वय जीवोंकी घातकरके सरस २ आहार बनाकर खानेवालेको साधुकभीनहीं कहना चाहिये। इसप्रकार तीर्थंकर भगवान्के पाससे गणधर महाराजने जेसासुना वैसाही अपने शिष्योंके सामने कथन

किया तथा सूत्ररूपमें रचनाभीकी, उसके अनुसार शय्यंभवसूरिजीने इससूत्रके पहिले अध्ययनमें कहाहै ॥५॥

ऊपरमें जो साधुके लिये भ्रमरकी उपमादी है, वह एकदेशीय दृष्टांतहै, तोभी जिसतरह भ्रमर नियम पूर्वक अपने परिचयवाला एकही वृक्ष पर एकही पुष्पके उपर हमेशा नहीं जाता किन्तु अनियमसे सर्वत्र वृक्षोंमें फिरता रहताहै तथा भ्रमरको कोईभी वृक्ष आमंत्रण देकर बुलवाताभी नहीं और लोभसे अधिकरस लेकर दूसरे दिनके लिये संग्रह करके रखताभीनहीं है। उसीतरह साधुभी अपने दृष्टिरागी परिचयवाले या धनवानोंके घरोंमें हमेशा वारवार जावे नहीं किंन्तु धनवान या गरीबोंके घरोंका भेदभाव रक्खे विनाही सर्वत्र समान रूपसे और अपरिचयवाले घरोंमें गोचरी के लिये फिरता रहे तथा कोई गृहस्थ दृष्टिरागसे कभी बुलानेको आवे उसके घरपर भी जावे नहीं और लोभसे अधिक आहार लाकर दूसरे दिन खानेके लिये संग्रहकरके रात्रिवासीभी रक्खेनहीं इत्यादि भ्रमरके गुणोंको ग्रहण करनेके लिये भ्रमरका दृष्टांत बतलायाहै। और भ्रमर चौरेंद्रिय अज्ञानी अव्रती है, जिससे उपरकी बातें ज्ञान बुद्धिसे जानकर नहींकरता किंन्तु जाति स्वभावसे करताहै, उससे वृक्षोंके विनादिये हुयेही रसग्रहण करलेताहै उसको तत्त्वसे कुछभी लाभनहीं होता और साधुतो पंचेंद्रिय मनुष्यहै तथा तत्त्वदृष्टिसे दर्शन ज्ञान

चारित्रकी आराधना पूर्वक मोक्षसाधन के लिये राग द्वेष रहित होकर निर्दोष वृत्तिसे दातारोंका दियाहुआ आहार ग्रहण करता है उससे कर्मोंकी निर्जरा होकर मोक्ष मिलनेका महान् लाभ प्राप्त करताहै, इससे साधु तो भ्रमर से अनत गुणा अधिक गुणी है, तो भी यहांपर वृक्ष समान ग्राम नगरादि, पुष्प समान गृहस्थलोग, रस समान निर्दोष आहारादि और भ्रमर समान साधु-साध्वियों को समझनें चाहिये।

साधु अपनेयोग्य शुद्धआहारकी तलाश करे, उसको आहार गवैषणा कहतेंहै, तथा आहार देनेवाले दातारलोगों की स्थिति, भक्ति और वस्तु सामग्री आदि देखकर थोडा२ आहार ग्रहणकरे, जिससे गृहस्थोंको दूसरी बार नया आहार वनानेका कष्ट व आरंभ न करना पडे तथा भूखेंभी न रहै, और अप्रीतिभी न होने पावे वैसा उपयोग पूर्वक आहार लेना उसको ग्रहणैषणा कहते हैं। और किसी दातारने सरस अहार बहुत अधिक दे दिया हो (वहोराया हो) या कृपणतासे अल्प दिया हो, अथवा स्वाद रहित रुखा-सूखा दिया होवे तोभी साधु आहार करते समय दातार या कृपणकी निन्दा या स्तुति कभीभी न करे, किन्तु समभावसे धर्म साधन करने के लिये शरीरको भाडा देने रूप राग द्वेष रहित होकर आहार करे उसको ग्रासैषणा कहते हैं, यदि दातार या सरस आहारकी प्रशसा

करताहुआ आहारकरे तो उत्तम बावन चन्दनको जलाकर कोयले करनेके समान शुद्ध संयमको मलिन करनेमें राग रूप अंगार दोषलगे। और कृपणकी या खराब आहारकी निन्दा करता हुआ आहार करे तो स्वर्णकी श्रेष्ठ चित्र शालीको धुंआ लगाकर खराब करनेकी तरह उज्वल शुद्ध संयमको द्वेषरूप धुंआ लगानेके समान धूम्र दोष लगे, इसलिये साधुको दातार या कृपणकी निन्दा, स्तुति या अच्छे, बुरे आहारपर राग द्वेष कभी नहीं करनाचाहिये।

अब साधु छ कारणोंसे आहार करताहै सो बतलातेहैं:- अपनी क्षुधा वेदनी (भूख) को निवारण करने के लिये आहार करे १, आचार्य, उपाध्याय, गुरु, तपस्वी, नयी दीक्षा वाले, वृद्ध, रोगी आदि छोटे बड़े साधुओं को धर्म साधनमें सहायता देनेरूप वैयावच्च करनेके लिये २, जीव दयाके लिये देखकर चलनेरूप इर्यासमितिका पालन करनेके लिये३, संयमकी रक्षा करनेके लिये ४,साधु जीवन का निर्वाह करनेकेलिये५, भविष्यमें धर्म चिंतवनकेलिये आहारकरे६,परन्तु शरीरकी पुष्टि,बल आदिकी बढ़तीके लिये न करे। अब जिन छ कारणोंसे साधु आहार न करे सो बतलातेहैं:- ज्वर (बुखार) आदि जब रोग आवें तब आहार न करे १, देव, मनुष्य, तिर्यंच सम्बन्धी किसी भी प्रकारके उपसर्ग आवें तब आहार न करे २, क्षुधा सहन करनेके लिये उपवास, बेला, तेला, आदि तप

करनेके लिये आहार न करे ३, काम विकार बढ़ने लगे तो ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये आहार न करे ४, वर्षा वर्षती हो, धुंवर गिरती हो या रास्ते में त्रस जीवोंकी उत्पत्ति हुई हो तो जाते आते जीव विराधना न होने पावे इस प्रकार जीवदयाके लिये आहार न करे ५, तप संयम करते हुए शरीर शक्तिरहित हो जावे, रोगादि में अंत समयमें या यावत्जीवन पर्यन्त अनशन करे तब संलेषणा में शरीर त्याग करनेके लिये आहार न करे ६.

अब आहार लेनेको जाने संबंधी दृष्टांत बतलातेहैं:— जिस तरह गऊ जंगलमें घास खानेको जातीहै तब सब जगह समानरूपसे फिरतीहै, वैसेही साधुभी आहारके लिये जब जावे तब छोटे या बडे, धनवान या गरीब घरोंका भेद भाव रक्खे विना सब जगह समान रूपसे जावे। तथा दूसरी बात यहभीहै कि-गऊ थोडा २ घास खाती है परन्तु गधेकी तरह जड निकालकर नहीं खाती है। उसी तरह साधुभी गृहस्थोंके घरोंमेंसे थोडा २ आहार लेवे किन्तु अन्य मतवालोंके जैसे गधाचरीकी तरह उसके कुटुम्ब परिवार या सामग्री या स्थिती को न देखते हुए जितनाहो उतनाही सब एकघरसे कभीभी न ले, इसलिये जैनसाधुके आहारलेनेकी रीतिको गोचरीकहतेहैं ॥१॥

तथा जिसतरह बड़ेघरकी स्त्री वस्त्र आभूषणादिसे सुशोभित होकर अपने छोटे बालकको स्तन पान कराती

हो अथवा भोजन कराती हो, उस समय वह बालक अपनी माताके शरीरकी शोभाको न देखता हुआ, सिर्फ अ-पना दूध पीने या भोजन करने रूप प्रयोजनको देखताहै। उसीतरह साधुभी गृहस्थोंके घर जब गौचरीके लिये जावे तब आहार देनेवाली स्त्रीके रूप, शोभा आदिको न देखता हुआ, सिर्फ अपने योग्य शुद्धमान आहार को देख कर ग्रहण करे ॥ २ ॥ तथा जिस तरह मेष (मेढ़ा-घेटा) जब जल पनिेको जाताहै, तब पानीको बिना गन्दला किये पीताहै। और महिष (भैंसा) जब पानी पीनेको जाताहै, तब विगाड़ देताहै। उसीतरहसे जब साधु गृ-हस्थोंके गृहमें गौचरी को जावे, तब गृहस्थोंको किसी प्रकार की तकलीफ बिना दिये ही अथवा गृहस्थोंके घरों में अन्न, शाक आदि वस्तु पडी हो उसका बिना स्पर्श कियेही आहार ग्रहण करे। परन्तु भैंसोंकी तरह गृहस्थों को तकलीफ देकर किसी तरह का आहार ग्रहण न करे ॥३॥ तथा जिसतरह सर्प एकसरीखी (समान) दृष्टिसे चलताहै। उसीतरह साधुभी जब गौचरी के लिये जावे तब इधर उधर न देखता हुआ संयम धर्म, इर्यासमितिमें दृष्टि रखकर चले, अथवा जब सर्प बिलमें प्रवेश करताहै तब इधर उधर भींतोंको न स्पर्श करता हुआ सीधा बिलमें प्रवेश करजाताहै। उसीतरह साधुभी जब गौचरी करे तब स्वादके निमित्त ग्रासको मुँहमें न फिराते हुए

सीधा उतारले (पेटमें डालले) ॥४॥ तथा जिसतरह किसीके फोडा गुंवडा आदि होनेपर उसके ऊपर पट्टी बाँधने
में कोईभी खुश नहीं होता, किन्तु अपने मनमें जल्दी रोग मिटे तो पट्टी बांधनेकी आफत मिटे, यही भावना हमेशा
रखताहै। इसीतरहसे साधुभी शरीरको हृष्ट पुष्ट करके प्रमाद, राग, द्वेप, कपायादि कर्मवंधनरूप रोगकी वृद्धि
के लिये आहार न करे परन्तु शारीरिक, मानसिक दु खोंका विनाश करनेके लिये, यानी—कर्मरूपी रोगको मिटाने
के लिये, धर्म साधनका हेतुभूत शरीरकी रक्षाके लिये निर्ममत्त्व भावसे आहार करे ॥५॥

तथा एक वनिया दरिद्रतासे दु.खी होकर रत्न द्वीपमें जाकर उत्तमसे उत्तम वहुतसे रत्न प्राप्त किये और उन
को लेकर घरको चलने लगा। परन्तु चोरोंके भयसे विकट रास्ता में होकर रत्न लेकर अपने देशमें आना वडाही
कठिन था, जिससे उसने एक युक्ति निकाली कि, सच्चे रत्न किसी गुप्त स्थानमें गाडदिये और पागलका वेप वना-
कर छोटे २ कंकरोंकी गठडी बांधकर शिरपर रखकर उस रास्तेसे चला और रत्नवाला वनिया जाताहै, रत्नवाला
वनिया जाताहै, ऐसा वारवार वोलता हुआ दो तीन वार उस रास्तासे निकलगया, उसको पागल समझकर चोर
लोग लूंटनेको न आये,तव चौथी वार सच्चे रत्नभी लेकर निर्विघ्न निकलआया और चोरोंसे वचगया। आगे रास्ता

में चलते २ उसको बहुतही जोरकी तृषालगी, अच्छा शीतल जल पीनेको कहीं नहींमिला, तब लाचारी से गलीच मलीन जलको स्वाद न लेते हुए पीकर अपने प्राण वचाये और रत्न लेकर घरमें आकर सुखी हुआ। उसी तरह से साधुभी संसाररूप अटवी में पांच इन्द्रियों के विषयरूप चौरोंसे दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप आत्माके अनन्तगुण वाले रत्नोंकी रक्षाके लिये संयमके साधन के वास्ते जब गौचरी जावे, तब निन्दा, स्तुति, मान, अपमान आदि दुँनियादारी की वातोंसे निरपेक्ष होकर लूखा-सूखा जैसा-तैसा आहार लाकर बिना स्वाद लियेही खाकर अपने प्राण बचावे और धर्म करके मोक्ष में जाकर सुखी होवे ॥६॥

तथा जिसतरहसे एकसेठकी लडकीको चौर उठाकर जंगलमें भागता हुआ जाताथा, उसके पीछे उसको पकडने के लिये अपने लडकों सहित सेठभी भागता हुआ पीछा करताथा, चौरने उनको पास आते देख घबडाकर लडकी का शिरकाट मस्तक लेकर आगे भगगया. यह देखकर वह सेठ लडकों सहित बडेही उदास (दुःखी) हुये. वहांपर जंगलभी बडाही गहन और भयंकरथा, लडकों समेत सेठको बडेजोरसे भूखलगीथी, वहांपर आहारका कुछभी साधन मिला नहीं, सबके प्राण जानेकी तैय्यारी हुई, तब परवश होकर प्राण बचानेके लिये, उदासीन भावसे घृणासहित

उन्होंने लडकीके (मृतशरीर) मुर्देको खाकर प्राण रक्षाकी और नगरमें आकर प्रायश्चित्तलेकर शुद्धहोकर सुखीहुये.
इसीतरहसे संसारमें सवजीव अपने पुत्र तुल्य हैं अथवा अन्य मतवाले कहतेहैं कि परमेश्वरने जगतके प्राणी
मात्रको बनायाहै, इस नियमसे भी सर्वजीव अपने भाई तुल्यही ठहरतेहैं, इसलिये अपने शरीरकी पुष्टिके लिये
मुर्देरूप उनके शरीरको खानाही अनुचितहै,तोभी ससाररूप अटवीसे पारहोनेके लिये और मोक्षरूप नगरमें जाने
केलिये धर्म साधनके हेतुभूत अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये, उस सेठकी तरह उदासीन वृत्तिसे साधु आहार लेवे,
परन्तु हमेशा अनाहारी (आहार रहित) होनेकी भावना करता रहे,अर्थात्—यह शरीर और उसके पोषणरूप आहार
ही जन्म, मरण, रोग, शोक आदि कर्म वन्धनका हेतुहै, उससेही चोरासी लाख जीवायोनिमें भ्रमण करना पडता
है, इसलिये शरीर, आहार और कर्मसे रहित होकर (छूटकर) जल्दीही मोक्ष जाऊं तो यह सब संसारकी उपाधि
जल्दी छूटे । ऐसी भावनासे आहार करे परन्तु स्वाद और सुखके लिये कभीभी आहार न करे ॥७॥ इस प्रकार
थोडे से दृष्टान्त आहार सम्बन्धी साधुके लिये ऊपर में बतलायेहैं, विशेष कर इस सूत्रकी बडी टीकामें और उसका
भाषान्तर आदि अन्य शास्त्रोंमें देखलेना ॥ इति द्रुम पुष्पिका नामक प्रथम अध्ययन सम्पूर्णम् ॥१॥

॥ अह सामण्णपुव्वयं दुइअं अज्झयणं ॥

कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए ॥ पए पए विसीअंतो, संकप्पस्स वसं गओ ॥ १ ॥ वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य ॥ अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥ २ ॥ जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठि कुव्वइ ॥ साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥ ३ ॥ समाइ पेहाइ परिव्वयंतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा ॥ न सा महं नोवि अहं वि तीसे, इच्चेव ताओ विणइज्ज रागं ॥ ४ ॥ आयावयाही चय सोगमल्लं, कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं ॥ छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ॥ ५ ॥ पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं ॥ नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥ ६ ॥ धिरत्थु ते ऽ जसोकामी, जो तं जिवियकारणा ॥ वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥७॥ अहं च भोगरायस्स, तं चऽसि अंधगविण्हिणो ॥ मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥८ ॥ जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ ॥ वायाविद्धो व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ససि ॥ ९ ॥ तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाइ सुभासियं ॥ अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥ १० ॥ एवं करांति सबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ॥ विणियट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसुत्तमो ॥ त्ति बेमि ॥ ११ ॥ इति ॥२॥

अब श्रामण्य पूर्वक नामक दूसरा अध्ययन कहतेहैं, प्रथम अध्ययनमें धर्मकी प्रशंसा बतलाया, ऐसाधर्म जैनशासनमेंहीहै, तोभी धर्मको ग्रहणकरके संयमका पालन करनेवाले नवदीक्षित साधुको कदाचित् संयम धर्ममें धैर्य न रहे और मोहके उदयसे चलायमान होजावे तो उस समय दृढचित्तसे धैर्य रखकर चारित्रमें दोष न लगाना चाहिये, क्योंकि जिसको धैर्य होगा वही तपस्या कर सकेगा और जो तपस्या कर सकेगा उसकोही अच्छीगति सुखसे मिलसकतीहै परंतु जिसको धैर्य नहीं उसको तपस्या करनाभी दुर्लभहै और अच्छीगति मिलनाभी दुर्लभहै, जिससे धैर्यवालाही शुद्धसंयमका पालनकरके तपस्या आदि धर्मकार्य करता हुआ अपना आत्म कल्याण कर सकताहै, इसलिये धैर्यधारण करके संयमधर्मका पालन करनेका उपदेश देनेकेलिये दूसरा अध्ययन बतलातेहै.—

भावार्थः—जिस प्रकार राजा होकरके न्यायसे प्रजाका पालन न करे और लोभादिसे अन्याय अनाचार करके प्रजाको कष्ट देकर दुःखी करे तो वह तत्त्वसे राजा नहीं कहा जाता उसी प्रकार गृहस्थावास का त्यागकर-के भी जो काम भोगका निवारण न करे तो संयम धर्मका पालन कैसे करसके, क्योंकि जिसका मन शब्द, रूप, रस, गंध,और स्पर्श रूप पांच इन्द्रियोंके विषय भोगकी अभिलाषामें लगा रहताहै वह अपने मनमें अनेक तरह

के संकल्प विकल्प रूप दुर्ध्यान (अशुभ विचारों) के वशमें पडा हुआ रहता है। उससे उसका मन चंचल (अस्थिर) होजाता है, जिससे कदम२ पर (समय २) नई नई अभिलाषाओंकी पूर्तिके लिये विषवाद (खेद) पाताहै, उससे साधुपनेकी क्रिया शुद्धभावसे शांति पूर्वक नहीं कर सकता और व्यवहारमें गृहस्थावासका त्यागी होनेसे संसारी सुखभी नहीं मिलते; उससे गृहस्थावास और संयमधर्म इन दोनोंसे भ्रष्ट होताहै, इसलिये संसारी काम भोगोंसे मनको पीछा हटाकर शुद्ध संयम धर्ममें लगाना चाहिये, उससे गृहस्थावासका त्याग करना सफल होकर आत्म कल्याण होवे ॥१॥ प्रथम गाथामें सामान्यतया बतलाया, अब दूसरी गाथामें यही उपदेश विशेष रूपसे बतलाते हैं- रेशम आदिके वहुत मूल्य वाले सुकोमल सुन्दर वस्त्र, तथा मनको खुश करनेवाले जाई, जूई, गुलाब, आदि के पुष्प, कस्तुरी आदिके चूर्ण, केवडा आदिके उत्तम २ अत्तर वगैरह अच्छे २ सुगंधित पदार्थ तथा हार,वाजूवंध,कडे,मुकुट आदि चांदी, सोना,मोती,माणेक,हीरादिके आभूषण तथा मनको हरण करनेवाली पद्मनी आदि स्त्रियें, तथा कोमल स्पर्शवाली गादी, तकीया, खुर्शी, सिंहासनादि शय्यायें, तथा दूध, दही, घृत, मिष्टान्न, शीतल जल, अच्छे २ मकान, वाग वगीचा आदि वस्तुएँ इच्छानुसार काममें आनेवाली सब सामग्री

अपने स्वाधिन नहीं होनेसे दरिद्री रंक और रोगी मनुष्योंकी तरह परवशपने उनका भोग उपभोग नहीं करसके परन्तु मनमें अभिलाषा बनीरहे तो वह त्यागी नहीं कहा जाता, अर्थात्-द्रव्यसे त्यागी बनगया, व्यवहार में साधु पनेकी क्रियाभी करताहै तोभी उसका मन पांच इन्द्रियोंके विषय भोगमें लगा रहताहै तो उसको त्यागी (शुद्ध साधु) नहीं कहना चाहिये ॥२॥ अब अतरसे सच्चा त्यागी कौनहै सो बतलातेहैं:—

जोमनुष्य पूर्वोक्त मनोहर और प्रियशब्दादि विषयोंको पाकर शुभ भावनाके कारण,अपने स्वाधीन भोगोंका त्यागकरके अपने आपको स्वाधीन बनाताहै वह निश्चयकरके त्यागीहै॥३॥ऐसे त्यागी महात्माका मनभी कदाचित् सयमसे बाहर होजावे तो क्या करना चाहिये सो लिखतेहैं, अपने तथा दूसरेके ऊपर समदृष्टिसे विचरते हुयेभी कदाचित् कर्मकी विचित्रतासे अपना मन चलायमान होकर संयमसे बाहर निकले तो शुभ अध्यवसाय (परिणाम)से रागको दूरकरना चाहिये, जैसे जिसके ऊपर राग उत्पन्न हो उसको इसप्रकार विचारकरना चाहिये कि यह मेरी नहींहै और न में इसकाहू,प्रत्येक प्राणी अपने२कर्मोंका अलग२फल भोगते हैं, इस प्रकारकी भावना करके उसकी ओरसे रागको हटाना चाहिये ॥ ४ ॥ पहिले अभ्यतर विधि रागको दूरकरनेके लिये बतायीहै, अब बाह्य विधि

बतातेहैं, मनको वशमें करनेकेलिये सूर्यके सामने खड़ाहोके आतापना ले, उपलक्षणसे उनोदरिकादि तपश्चया कर, कोमलताका त्यागकर, क्योंकि इससे कामकी इच्छा उत्पन्न होतीहै तथा स्त्रियोंपर प्रेम उत्पन्न होताहै, इसप्रकार इन दोनों भावनाओंको अंगीकार करके कामका (विषयका) उल्लंघन करना। अब अंतर कामको शांत करनेकी विधिबतातेहैं. द्वेषको छेद और रागकोदूरकर, ऐसा करनेसे संसारमें जबतक मोक्ष प्राप्त न होवे तबतक सुखहोगा॥५॥ संयमसे मनको बाहर नहीं निकलने देनेके लिये ऐसा विचार करना चाहिये अगंधन कुलमें उत्पन्न हुआ सर्प, धूंये से व्याप्त और दुःखसे सहसके ऐसी ज्वालायुक्त अग्निमें प्रवेश करताहै परंतु स्वयंसे छोडेहुये या उगलेहुए विष को फिर भोगनेकी इच्छा नहीं करताहै, इसीतरह तिर्यंचभी अभिमानसे प्राण त्यागदेतेहैं परंतु त्यागकी हुई वस्तु का फिर भोग नहीं करतेहैं। तिसपर मैं तो जिनवचनका जानकार होकरभी जिसका विपाक अत्यंत दारुणहै, ऐसे विषयको त्यागकर फिर उसको भोगनेकी इच्छा करताहूं जोकि यह मेरे योग्य नहींहै. इस स्थानपर रथनेमी का दृष्टांत समझना चाहिये ॥ ६ ॥ राजमती रथनेमिको कहतीहै किः— हे अप यशका कामी ! तुझे धिक्कारहो ! जो असंयमकी हेतु भूत और भगवान्से त्यागीहुयी ऐसी मुझको तू भोगनेकी इच्छा करताहै ? इस धर्ममर्यादा

का उल्लंघन करने से तेरा मर जानाही अच्छा है ॥ ७ ॥ मैं राजा उग्रसेन की पुत्री हूँ, और तू राजा समुद्र विजयजीका पुत्र है, हम और तुम उत्तम कुलमें उत्पन्न होकर, गंधन कुल के नागकी तरह होना उचित नहीं है, इसलिये सयम में स्थिर चित्त रखकर चलना चाहिये ॥ ८ ॥ हे रथनेमी आप जिन २ स्त्रियों को देखोंगे, उनके ही प्रति मन में कुविचार लावोंगे तो जिसप्रकार हडोनामकी वनस्पति की तरह जडनहीं जमीहोनेके कारण वायु के छांटेसे झकोरेसेभी उखड जातीहै. उसीप्रकार तुमभीं सयम गुणकी मूल जमीहुयीं नहीं होनेके कारण ससार समुद्रमें प्रमादरूपी पवनसे प्रेरित कियेगये अस्थिर हो जावोगे ॥ ९ ॥ संयम वान् राजमतीके संवेगको उत्पन्न करनेवाले ऐसे वचनोंसे जिसप्रकार अकुशसे हाथी (वशहोताहै) स्थिरहोताहै। उसीप्रकार रथनेमी धर्मके विषयमें स्थिर हुआ ॥ १० ॥ जिसप्रकार पुरुषोंमें उत्तम रथनेमी राजमतीके ऐसे वचनोंको सुनकर विषयसे पीछेहटगया, उसी प्रकारसे बुद्धिमान् छोडेहुये भोगको फिरसे ग्रहण करनेका दोष जानकर, विचक्षण और पापभीरु विषयों से पीछे हटजाताहै ॥ ११ ॥ इति श्री श्रामण्य पूर्वक नामक द्वितीयमध्ययनम् ॥

॥ अह खुड्डयायार कहा तइयं अज्झयणं ॥

मूल सूत्रं—संजमे सुट्ठिअप्पाणं,विप्पमुक्काण ताइणं। तेसिमेय मणाइण्णं,निग्गंथाण महेसिणं॥१॥उद्देसियं कीयगडं, नियागमभिहडाणि य ॥राइभत्ते सिणाणे य,गंधमल्ले य वीयणे ॥२॥ संनिही गिहिमत्ते य,रायपिंडे किमिच्छए ॥ संवाहणा दंतपहोयणा य, संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥३॥ अट्ठावए य नालीए, छत्तस्स य धारणट्ठाए ॥ तेगिच्छं पाहणापाए,समारंभं च जोइणो ॥४॥ सिज्जायरपिंडं च,आसंदीपलियंकए। गिहंतरनिसिज्जा य,गायस्सुव्वट्टणाणि य.

भावार्थः—दूसरा अध्ययनमें धैर्य्यवान् होनेकेलिये जो उपदेश कियाहै वह धैर्यता साधुको आचार क्रियामें करनी चाहिये, इस कारणसे क्षुल्लकाचार कथा नामका तीसरा अध्ययनमें साधुका आचार कहतेहैं,संसारमें गृहस्थाश्रमसे दूर हुये तथा जगत के प्राणियोंको तारनेवाले और संयममें अपनी आत्माको रखनेवाले, निग्रंर्थ महर्षियोंको यह आगे बतलानेमें आयगा वह अंगीकार करना योग्यनहीं है ॥१॥ साधुको उद्देशकरके (साधुके निमित्त आरंभकरके) जो कोई आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, उपाश्रयादिक बनवायाहो १,साधुके निमित्त बाजारसे वस्तु खरीदकर लाके देवे २,साधुको आमंत्रण करने बुलानेको आवे उसकेघर आहार-पाणी लेनेके निमित्तजावे ३,गृहस्थ अपने गांवसे साधुके सामने भोजन आदिकी सामग्री लायाहो ४,रात्रि भोजन करना ५,स्नान करना ६, सुगंधी पदार्थ उपयोगमें लाना

७,पुष्पोंकी माला पहरना८,हवाके लिये पखा करना ९,यह बाते साधुके अंगीकार करने योग्य नहीं है,क्योंकि इन सबमें आरभ होता है॥२॥ गुड,घी,आदि रात्रि वासी रखना१०,गृहस्थोंके बर्तनोंमें आहार करना११,राजाके गृहसे आहार लाना१२,जिसको जो इच्छा हो वो लेजावो ऐसी दानशाला आदिमेंसे आहार लाना१३,हड्डी, मांस,चर्म और रोम आदि चारोंको सुखहो वैसा तेल आदिसे मर्दन करना १४, अंगुलियां प्रमुखसे मुखका प्रक्षालन करना १५,गृहस्थोंके गृहव्योपार सम्बन्धी प्रश्नकरना अथवा गृहस्थीसे सुखशातादि पूछना १६, दर्पणमें शरीरको देखना १७, इन सर्व वस्तुओंके संग्रहसे परिग्रह और प्राणातिपातके दोष लगतेहैं ॥३॥ जुआ खेलना अथवा गृहस्थ सम्वधी निमित्तादि कहना१८, गंजीफा आदि खेलोंमें पासा फेंकना यहभी एक जुआका भेदहै१९, सिरपर छत्र धारण करना २०,रोगों की औषधि कराना (उत्सर्गमें तो मनाहै परन्तु सहन नहीं होसके तब अपवादमें करातेहैं) २१, पगमें जूती पहनना२२, अग्निका आरंभ करना२३, इन सर्व जुआ आदिके दोष प्रकटहोंहैं ॥४॥ जिसके मकानमें उतरेहों उसके घरका आहार लेना २४, पलंग, खाट अथवा शय्यापर सोना २५, दो घरोंके मध्यमें बैठना तथा मुहल्ला वगैरेमें बैठना २६, मैल आदि छुडाकर शरीरका शृंगार करना २७ ॥५॥

मूल सूत्रंः—गिहिणो वेआवडियं, जाय आजीववत्तिया ॥ तत्तानिव्वुडभोईत्तं, आउरस्सरणाणि य ॥६॥ मूलए सिंगबेरे य, उच्छूखंडे अनिव्वुडे॥कंदे मूले य सच्चित्ते, फले विए य आमए ॥७॥सोवच्चले सिंधवे लोणे, रोमलोणे य आमए ॥ सामुद्दे पंसुखारे य,कालालोणे य आमए ॥ ८ ॥ धुवणे त्ति वमणे य, वत्थीकम्मविरेयणे ॥ अंजणे दंतवणे य, गायब्भंगेविभूसणे ॥ ९ ॥ सव्वमेयमणाइन्नं, निग्गंथाण महेसिणं । संजमम्मिं अ जुत्ताणं, लहुभूय-विहारिणं ॥१० ॥

भावार्थः—गृहस्थोंकी वैयावच्च करना २८, अपनी जाति आदि वतलाकर आहार तथा वस्त्र, आदि लेना २९, कच्चा पक्का दोनों तरहका मिलाहुआ मिश्र पानी पीना ३०, दोषीको आश्रय देना ३१, ॥६॥ सचित्त मूला ३२, आदू (अंदरक) ३३, सेलड़ी ३४, कंद ३५, मूल, ३६, फल,३७वीज, ३८, ॥७॥ संचल नमक ३९, सैंधव नमक ४०,सांभर का निमक४१,खानका निमक४२,समुद्रका निमक४३, खारा४४, काला निमक४५, यह सर्व वस्तुऐं सचित्त लेने योग्यनहीं ॥ ८ ॥ वस्त्र आदि वस्तुओंको धूपसे सुगन्धित करना ४६, वमन करना ४७, वास्ति कर्म करना, अर्थात्-पेट में रहे हुये मलको गुदा द्वारा वाहर निकालनेके निमित्त की जाती हुई हठयोग सम्बन्धी

क्रिया करना ४८, रेच (जुलाब) लेना ४९, सुरमाका आंखोंमे अजन करना ५०, दातून करना ५१, तेल आदि वस्तुओंसे शरीरका मालिश करना ५२, शरीरपर आभूषण धारण करने ५३, ॥ ९ ॥ यह उपरोक्त सर्व क्रियायें सयममें लीन तथा वायुके समान अप्रतिवद्ध निहारी (विघ्न रहित किसीसे रोकने पर न रुकनेवाले) *सर्वत्र विचरनेवाले निर्ग्रंथ महात्माओंके करने योग्य नहीं हैं ॥ १० ॥*

सूत्र—पचासनपरिण्णाया, तिगुत्ता छसु सजया ॥ पचनिग्गहणा धीरा, निग्गथा उज्जुदसिणो ॥ ११ ॥ आयावयति गिम्हेसु, हेमतेसु अवाउडा ॥ वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ॥ १२ ॥ परिसहरिउदंता, धूअमोहा जिइंदिया ॥ सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमन्ति महेसिणो ॥ १३ ॥ दुक्कराइ करित्ताणं, दुस्सहाइ सहित्तु य ॥ *केइ त्थ देवलोएसु, केइ सिज्झन्ति नीरया ॥ १४ ॥* खवित्ता पुव्वकम्माइं, सजमेण तवेण य ॥ सिद्धमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिणिव्वुडे ॥ त्ति बेमि ॥ १५ ॥ इअ ॥ खुड्डयायारकहा नाम तइयमज्झयण समत्त ॥ ३ ॥

(यह निर्ग्रंथ महात्मा किस प्रकार के होते हैं)

भावार्थः—प्राणातिपातादिक पांच आश्रव, अर्थात्—प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, और परि

ग्रह यह पांचों आश्रव जिन्होंनें त्यागकियेहैं तथा तीनगुप्तियोंसे अर्थात्-मनगुप्ति, वचनगुप्ति,कायगुप्तिसे गुप्त तथा छः
कायके जीवों पर दया करनेवाले(पृथ्वी, पानी,अग्नि, वायु,वनस्पति और त्रसकाय इन छः कायोंकी रक्षा करने वाले)
और पांचइन्द्रियोंको वशमें करनेवाले,धैर्य्यवान, गंभीर तथा संयमको ही अंगीकार करनेका तवत्त्को समझनेवाले
महात्मा होतेहैं ॥ ११ ॥ वे महात्मा ग्रीष्मऋतु में आतापना लेते हैं, शीतऋतु में वस्त्रोंका त्यागकरके खुले
अंगरहतेहैं, वर्षाऋतुमें विहारकरना वंदकरके एकस्थानमें, ज्ञानादिक विषयोंमें तत्पर रहतेहैं॥ १२ ॥ परिसह शत्रु
का दमनकरके ,मोहके उदयको त्यागकर इन्द्रियोंपरविजय प्राप्त करके वे महात्मा सर्वदुःखोंका नाशकरनेके निमित्त
उद्यमकरतेहैं ॥ १३ ॥ (उसका फल बतलातेहैं) उद्देशिक आदिका त्यागकरके, ऐसे दुष्कर असहनीय आताप-
नादि सह करके कितनेक महात्मा देवलोकमें जातेहैं और कितनेक कर्मक्षय करके परमपद अर्थात्-मोक्षको पाते
हैं ॥ १४ ॥ जो महात्मा देवलोकमें गयेहैं वह देवलोकका आयुः पूर्ण करके इस मनुष्यलोकमें जन्म लेकर संयम
और तपकरके शेष कर्मोंको क्षयकरके इसप्रकार अनुक्रमसे सम्यग्दर्शन आदि सिद्धिमार्गको पाकर स्वयं तिरें तथा
दूसरोंको तारनेवाले, वे संयमी मोक्षको प्राप्त करते हैं ॥१५॥ इति क्षुल्लकाचार कथा नामक ३ अध्ययन संपूर्ण।

॥ अह छज्जीवणियानामं चउत्थं अज्झयणं ॥

सूत्रं—सुअं मे आउसतेणं भगवया एवमक्खाय, इह खलु छजिवणिया नामज्झयणं समणेण भगवया महावीरेण कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ता सेअं मे अहिज्जिउ अज्झयणं धम्मपणत्ती ॥ १ ॥ कयरा खलु सा छजिवणिया नामज्झयणं समणेण भगवया महावीरेणं कासवेण पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ता सेअ मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपणत्ती ॥२॥ इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेण भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ता सेअं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती ॥

भावार्थः— पीछले आचार विषयके तीसरे अध्ययनमें धैर्यता रखनेका वर्णनहे और वह आचार छः कायके जीवों सम्बन्धी होनेसे यहांपर छःकाय के जीवों का कथन करते हैं, श्रीसुधर्मास्वामी अपने जंबू नाम के शिष्य से कहते हैं कि हे आयुष्मान् जंबू ! मैंने काश्यप गौत्रीय श्री श्रमण भगवन् महावीर स्वामी से सुना है कि यह छःजीव निकाय नामक अध्ययनको केवलज्ञानसे जानकरके सुरासुर मनुष्य युक्त समवसवरणकी पर्षदामें प्रकाशकिया और स्वयं भी उसी अनुसार पालन किया, इसलिये जिसमें धर्मकी प्ररूपणाहे ऐसे धर्मप्रज्ञप्ति अध्ययनको वह तेरे लिये अध्ययन

करना(पढना) अत्यन्त श्रेयस्कर (कल्याण कारक)हे, शिष्य पूछताहै कि हे भगवन् वह छःजीवनिकाय नामका अध्ययन कैसाहै जो श्रमणभगवन् श्रीमहावीरस्वामी काश्यप गौत्रीयने ज्ञानसे जाना, कहा और पालनाकिया. उस का पढना मेरेलिये कल्याणकारीहे। गुरु उत्तर देतेहैं कि हे शिष्य ! जिसका जो आगे वणर्नकरताहूं वह छःजीवनिकाय नामका अध्ययन काश्यप गौत्रीय श्रमण भगवन् श्रीमहावीरस्वामीने स्वयं केवलज्ञानसे जाना, लोगोंको उपदेश दिया तथा स्वयं पालनभी किया। वही धर्मके वतानेवाले अध्ययनका तेरे लिये पढना श्रेयस्कारी है। तेरी आत्मा का कल्याण करने वालाहै।

सूत्र–तं जहा—पुढविकाइया १, आउकाइया २, तेउकाइया ३, वाउकाइया ४, वणस्सइकाइया ५, तसकाइया ६। पुढवी,चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं। आऊ,चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं। तेउ,चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं। वाऊ, चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं। वणस्सई, चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं; तं जहा-- अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया, खंधबीया, बीयरुहा,

समुच्छिमा, तणलया, वणस्सइकाइया, सवीया, चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं।

भावार्थः—अब छः कायोंके नाम कहतेहैं—पृथ्वीकाय, अपकाय तेऊकाय, वाउकाय, वनस्पतिकाय ओर त्रसकाय. पृथ्वी जीवों युक्तहै, इसमें अनेक जीव हैं प्रत्येक अलग२हैं परन्तु उनके ऊपर चलना, दौडना, फिरना, बोझ डालना आदि स्वकाय, परकाय और उभयकाय ऐसे तीनप्रकारके शस्त्रोंसे पृथ्वी अचित्त,अर्थात्—विना जीववाली होजातीहै ओर बाकीकी पृथ्वी सचित्त अर्थात् जीववालीहै।१। जल सचित्त अर्थात्—जीववालाहै इसमें अनेक जीव हैं वे सब अलग २ हैं परंतु इसके प्रतिकूल अग्नि आदि परकाय, स्वकाय, उभयकाय शस्त्रों के संयोगसे यह बिना जीव वाला होजाताहै ओर बाकीका जीववाला (सचित्त) जल रहताहै। २। अग्नि सचित्त (जीववाली) है,इसमें अनेक जीव हैं वे सब अलग २ जीव हैं वह स्वकाय, परकाय, उभयकाय आदिसे अचित्त की गई अग्निके सिवाय बाकी अग्नि सचित्त(जीववाली) है। ३। वायु सचित्तहै, इसमें अनेक जीव हैं सब अलग२ हैं परन्तु इसके प्रतिकूल संयोगके अन्य शस्त्रोंसे अचित्त होजाताहै और बाकीका वायु सचित्त रहताहै। ४। वनस्पति जीव वाली है, इसमें अनेक जीवहैं वह सब अलग२ हैं, जिसतरहसे शस्त्रोंसे जीव मृत्युको प्राप्त होजाताहै, उसीप्रकार प्रतिकूल संयोगों

अचित्त होजातीहै, वाकीकी सचित्तहै। ५। अब वनस्पति
से इसके जीवों का नाश होजाताहै और वह वनस्पति
कायके जीवोंके भेद कहतेहैं-अग्रवीज, मूलवीज, पोरवीज, स्कंधवीज, वीजरूह, समूर्छिम, तृण, लतादि वनस्पतिके
अनेक भेदहैं. जिसके अग्रभागके ऊपर वीजहो वह अग्रवीज वनस्पति कहलातीहै, जैसे—कोरंटादि. जिसके मूल
में (जडमें) वीजहो वह मूलवीज; जैसे कमलादि. जिसके गांठमें वीजहो वह पर्ववीज; जैसे सेलडी आदि. जिस
के कंधेमें वीज हो वह स्कंधवीज; जैसे साल वडादि. जो वीजसे उत्पन्नहो वह वीजरूह है; जैसे चांवलआदि. जो
प्रकटमें वीजके विना उत्पन्नहो या जिसका वीज प्रसिद्ध न हो वह समूर्छिम; जैसे घास, फूस, वेल आदि. यह अग्र
वीज आदि वनस्पतियां वीजसहित जीववाली होतीहैं इनमें अनेकजीव होतेहैं वह सव २ अलग होतेहैं परंतु प्रति
कूल संयोगोंके शस्त्रोंसे जीववाली वनस्पति अचित्त होतीहै, वाकी सचित्त होती है।

सूत्र— से जे पुण इमे अणेगे वहवे तसा पाणा; तं जहां अंडया, पोयया, जराउया, रसया, संसेइमा,
समुच्छिमा, उब्भिया, उववाइया, जेसिं, केसिंचि, पाणाणं, अभिक्कंतं, संकुचियं, पसारियं, रुयं, भंतं, तसियं,
पलाइयं, आगइ गइ विन्नाया; अ जे कीडपयंगा, जे य कुंथु, पिपीलिया; सव्वे वेइंदिया; सव्वे तेइंदिया; सव्वे

चउरिंदिया, सव्वे पंचिंदिया, सव्वे तिरिक्खजोणिया, सव्वे नेरइया, सव्वे मणुआ, सव्वे देवा, सव्वे पाणा, परमाहम्मिआ, एसो खलु छट्ठोजीवनिकाओ तसकाओ त्ति पवुच्चइ। इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारभिज्जा, नेवन्नेहिं दंडं समारंभाविज्जा, दंड समारभन्ते वि अन्न न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेण वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि।

भावार्थः—त्रसजीवों के भेद बताते हैं—बहुतसे त्रसजीव अंडजहैं, अर्थात—अंडोंसे पैदा होते हैं—जैसे-पक्षियोंमें गृह कोकिला, हंस, कबूतर, काक आदि। पोतज, अर्थात्—पोतसे पैदा हुये, जैसे—हाथी, वागोल, जलों प्रमुख। जरायुज, अर्थात्—जरसे मिले हुये, जैसे—गाय, भैंस, बकरी, मनुष्यादि। चलित रसवाले पदार्थसे उत्पन्न हुये कृमी आदि. स्वेदज, अर्थात्—प्रस्वेद से पैदा हुए, जैसे—जूं, मांकड आदि। समूर्छिम, अर्थात्—स्वाभाविक पैदाहुये, जैसे—टीड्डी, कीडी मक्खी, मेंढक आदि। उदाभिज; अर्थात्—पृथ्वी, फाडकर पैदा हुये, जैसे पतंग, खजरी आदि। उपपातसे पैदाहुये, जैसे देवता, नारकी इनमें से कितनेक सामने

आना, पीछे हटना, शरीरका संकोच करना, अवयवों को फैलाना, शब्द करना, घूमना, दुःखपाना, दौडना, जाना, आना आदि क्रियायें करने वाले होने से यह त्रसजीव जाननेमें आतेहैं; यह जीव, जैसे—कामियां,पतंगयां, कुंथुवा, कीडीयां आदि सर्व दो इन्द्रिय वाले, सर्व तीन इन्द्रिय वाले, सर्व चार इन्द्रिय वाले, सर्व पांच इन्द्रिय वाले, सर्व तिर्यंच, सर्व नारकी, सर्व मनुष्य, सर्व देवता, यह सर्व प्राणी सब सुखके अभिलाषी हैं और दुःखके द्वेषी हैं, यह छठा जीवोंका समुह त्रसकाय कहलाताहे ।

इस पूर्वोक्त छः काय के जीवोंके समुहको मारनेकी या दुःख देनेकी क्रिया(दंड)न स्वयं करना, न अन्यसे करवाना; और अगर कोई करता हो तो अच्छा न जानना, अर्थात्—उसका अनुमोदन न करना. इस प्रकार श्रमण भगवन् श्रीवर्द्धमान स्वामीकी आज्ञाहे, श्रमण भगवन् श्रीमहावीरस्वामीकी यह आज्ञा सुन कर, शिष्य कहने लगा कि यदि श्रमण भगवन् की ऐसी आज्ञा है तो में जहां तक इस देहमें जीवित हूं वहां तक त्रिविध त्रिविध मन वचन और कायसे किसी भी प्राणी को दंड नहीं करूंगा, नहीं करवाउंगा, और करते हुयेको भी अच्छा नहीं मानुंगा, ऐसा तीन प्रकारका दंड जो मेंने पहले किया हो उससे पीछा

हटताहू मेरेसे किये हुये दडको आत्माकी साक्षीसे, निंदताहूँ, गुरुआदिकी साक्षीसे गर्हा करताहूं, भूतकालमे दडकरने वाली मेरी आत्माके निंदनीक परिणामका त्याग करताहूं। प्रथम सामान्यसे दड कहा, अब विशेप प्रकारसे पच महाव्रतोंके द्वारा दड नहीं करना बताते हैं।

मूल सूत्रः—पढमे भन्ते! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं। सव्वं भन्ते! पाणाइवायं पच्चक्खामि। से सुहुमं वा, बायर वा, तस वा, थावर वा, नेव सय पाणे अइवाइज्जा, नेवऽन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा, पाणे अइवायन्तेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेण मणेण वायाए काएण न करोमि न कारवेमि करतंपि अन्न न समणुजाणामि, तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। पढमे भन्ते! महव्वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमण ॥

भावार्थः—(साधुओंके पांच महाव्रत) हे भगवन्! प्रथम महाव्रतमें प्राणातिपात; अर्थात्-जीवोंके मारनेसे मैं पीछा हटताहू हे भगवन्! सर्वथा जीवोंको मारनेका मैं पच्चक्खाण करताहूँ, कि वह अल्प (सूक्ष्म) अथवा बादर (बडे) अथवा त्रस या स्थावर सर्व जीवों (त्रसके सूक्ष्मजीव कुंथवादि, त्रसकें बादर जीव, गाय, भैंस, म-

नुष्यादि, स्थावरके सुक्ष्मजीव वनस्पति संबंधी लीलण फूलण प्रमुख; स्थावरके बादर जीव पृथ्वीकायादि;) को मैं स्वयं नहीं मारूंगा; न दूसरेसे मराउंगा, यदि कोई मारता हो तो अच्छाभी नहीं जानुंगा, जबतक इस देहमें प्राणहैं तबतक मैं मन, वचन, कायासे किसी जीवको हणुंगा (मारूंगा)नहीं, हणाउंगा नहीं, अथवा कोई हणता हो तो उसकी अनुमोदना भी नहीं करूंगा; यदि कोई जीव मेरेसे भूतकालमें मारागया हो तो मैं उसपापसे पीछा हटताहूँ, आत्माकी साक्षीसे उसपापकी निंदा करता हूँ, गुरु आदि दूसरोंकी साक्षीसे उसपापकी गर्हा करता हूँ, और ऐसे आत्माके निंदनीक अध्यवसायका त्याग करता हूँ। त्याग करके हे भगवन्! सर्वथा जीवों को नहीं मारनेरूप प्रथम महाव्रतमें मैं रहा हूँ. ॥ १ ॥

मूल सूत्रः—अहावरे दुच्चे भन्ते! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं। सव्वं भन्ते ! मुसावायं पच्चक्खामि। से कोहा वा, लोहा वा, भया वा, हासा वा, नेव सयं मुसं वइज्जा, नेवन्नेहिं मुसं वायाविज्जा, मुसं वयन्ते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । दुच्चे भन्ते! महव्वए उव-

दुओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं ॥ २ ॥

भावार्थ.—हे भगवन्! अब दूसरे महाव्रत में मिथ्याभाषण करनेका मैं त्याग करताहूँ, हे भगवंत! सर्वथा मिथ्या भाषण करनेका मैं पच्चक्खाण करताहूँ वह क्रोधसे, लोभसे, भयसे, हास्यसे असत्य भाषण नहीं करूंगा, दूसरेसे असत्य वचन नहीं बुलाउँगा और मिथ्या भाषीकी अनुमोदना भी नहीं करूँगा, जबतक शरीरमें प्राण हैं तबतक त्रिविध २ मन, वचन, और कायासे झूठ बोलूंगा नहीं, बुलाउंगा नहीं, और बोलने वाले को अच्छाभी समझूगा नहीं। कदाचित पहिले मिथ्या भाषण किया हो तो उस असत्य के पापसे हे भगवन्! मैं दूर हटता हूं, आत्मा की साक्षी से उस पापकी निंदा करता हूँ, गुरु आदि दूसरोंको साक्षीसे गर्हा करताहूँ, और इस अशुद्ध अध्यवसाय (व्यापार) से आत्मा का छुटकारा करता हूँ, इस प्रकार करनेसे सर्वथा असत्य बोलनेसे दूर होकर मैं दूसरे महाव्रत में रहाहुआ हूँ ॥ २ ॥

मूल सूत्रं.—अहावरे तच्चे भन्ते! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमण। सव्व भन्ते! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि से गामे वा, नगरे वा, रण्णे वा, अप्प वा, वहु वा, अणु वा, थूल वा, चित्तमंत वा, अचित्तमंतं वा, नेव सयं

अदिन्नं गिण्हिज्जा नेवन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा, अदिन्नं गिण्हन्ते वि अन्ने न समणुजाणामि । जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । तच्चे भन्ते ! महव्वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ॥ ३ ॥

भावार्थः—हे भगवन् ! अब तीसरे महाव्रतमें सर्वथा चौरी करनेका त्याग करताहूँ । हे भगवंत सर्वथा चौरी करनेका मैं पच्चक्खाण करताहूँ, वह ग्राममें, नगरमें अथवा वनमें, अल्प मूल्यवाली, अथवा बहूमूल्य वाली, छोटी अथवा बड़ी, सचित्त (जीववाली) अथवा अचित्त (विना जीववाली) कोईभी वस्तु मैं उसके स्वामी के दिये विना नहीं लेऊँगा, दूसरोंके पाससे लेवाऊंगा नहीं और दुसरे लेनेवाले की अनुमोदना भी नहीं करूंगा. यावत् जीवन पर्यंत त्रिविध २ मन, वचन, कायासे मैं चौरी करूंगा नहीं, दूसरोंसे कराऊंगा नहीं, और चौरी करनेवालों की अनुमोदना भी करूंगा नहीं; पहिले मैंने चौरी की हो उस पापसे दूर हटता हूं, आत्माकी साक्षीसे उसकी निंदा करता हूं, गुरु आदि दूसरोंकी साक्षीसे गर्हा करता हूँ आत्मासे इस बुरे

काय, ससरक्खं वा वत्थं, हत्थेण वा, पाएण वा, कट्ठेण वा, किलिंचेण वा, अंगुलियाए वा, सिलागाए वा, सिलागहत्थेण वा, न आलिहिज्जा, न विलिहिज्जा, न घट्टिज्जा, न भिंदिज्जा, अन्न न आलिहाविज्जा, न विलिहाविज्जा, न घट्टाविज्जा, न भिंदाविज्जा, अन्न आलिहंत वा, विलिहतं वा, घट्टत वा, भिंदत वा न समणुजाणिज्जा जावजीवाए तिविह तिविहेणं मणेणं वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करतं पि अन्न न समणुजाणामि तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि ॥ १ ॥

(चारित्र धर्मकी यत्ना कहते हैं)

भावार्थः—वे संयमी, तपस्या में लिप्त, प्रत्याख्यान करके पाप कर्मको दूर करनेवाले ऐसे साधु अथवा साध्वियाँ, दिनमें या रात्रिमें, अकेलेमें या पर्षदा (सभा)में, सोते हुये या जागते हुये हों उनको सचित्त मिट्टी, नदीके किनारेकी भींत, बडे २ सचित्त पत्थर (शिला आदि), छोटे २ पत्थरके टुकडे, हवासे उडीहुई सचित्त मिट्टी से लिप्त शरीर और सचित्त धूलवाले वस्त्र, पात्रादि सर्व वस्तुओंको हाथ करके, पैर करके, काष्ट करके, काष्ट आदि के खीलों करके, अंगुलियां करके, लोंहे की शलाका करके और शलाकाओं के समुदाय करके सचित्त

मिट्टी आदि पृथ्वीकायको मैं खोदुं नहीं, उखाडुं नहीं, आलेखुं (थोड़ी २ रेखा करूं) नहीं, विशेष आलेखुं (बहुत रेखा करूं) नहीं, बारंवार ऐसा करूं नहीं, एकस्थान से दूसरे स्थानपर रखुं नहीं, संघट्टा (स्पर्श) करूं नहीं और उसका किसी तरहसे भेदनभी करूं नहीं तथा दूसरे से कहकर खुदवाउं, उखडवाउं, आलेखन, विलेखनं, संघट्टन, भेदन करवाउं नहीं और दूसरा अपनी इच्छासे आलेखन करता हो, विलेखन करता हो, संघट्टा करता हो, भेदन करता हो तो उस का अनुमोदनभी करूं नहीं. यह सब जावजीव पर्यंत मन, वचन, कायासे त्रिविध २ स्वयं वैसा करना नहीं, दूसरेसे करवाना नहीं, और करनेवाले को अच्छा समझना नहीं. कदाचित् जो पहिले वैसे हो गया हो तो उस पाप से आत्माको अलग रखताहूँ, मैं अपनी आत्माकी साक्षीसे निंदा करताहूँ और गुरुकी साक्षीसे गर्हा करता हूँ, इस प्रकारके विचारोंसे स्वात्माको वोसराताहूँ ॥ १ ॥

मूल सूत्रं—से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से उदगं वा, ओसं वा, हिमं वा, महियं वा, करगं वा, हरितणुगं वा, सुद्धोदगं वा, उदउल्लं वा कायं, उदउल्लं वा वत्थं, ससिणिद्धं वा कायं, ससिणिद्धं वा वत्थं न आमुसि-

ज्जा न सफुसिज्जा न आवीलिज्जा न पवीलिज्जा न अक्खोडिज्जा न पक्खोडिज्जा, न आयाविज्जा न पयाविज्जा, अन्न न आमुसाविज्जा न सफुसाविज्जा न आवीलाविज्जा न पवीलाविज्जा न अक्खोडाविज्जा न पक्खोडाविज्जा न आयाविज्जा न पयाविज्जा अन्न आमुसत वा सफुसत वा आवीलत वा, पवीलत वा अक्खोडत वा पक्खोडत वा आयावन्तं वा पयावन्तं वा न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविह तिविहेण मणेण वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करन्तं पि अन्न न समणुजाणामि । तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ २ ॥

भावार्थः—जलके आरम्भ का निषेध और उसकी यत्ना—संयमी, तपस्या में लीन, पच्चक्खाण करके पाप कर्मोंको दूर करने वाले ऐसे साधु अथवा साध्वियाँ दिनमें या रात्रिमें; अकेलेमें या पर्षदा (सभा) में, सोते हुएमें या जाग्रत अवस्थामें उनको पृथ्वीमें से निकला हुआ पानी, ओसका पानी, हिमका पानी, धुंसरका पानी, करा (गड्ढे) का पानी, हरे तृणके ऊपरी भागपर रहा हुआ पानी, आकाशसे पडा हुआ पानी, अर्थात्—वर्षाका' पानी, इत्यादि सचित्त जलसे भींजा हुआ शरीर, सचित्त जलसे भींजा हुआ वस्त्र अथवा

सचित्त जल का थोड़ासा भी अंशवाला शरीर--वस्त्र आदि को; थोडा या अधिक, एक बार या बारंबार (बहुत बार) स्पर्श करना नहीं, थोड़ा या अधिक, एक बार या बारम्बार हिलाना नहीं, थोड़ा या अधिक, एक बार या बारम्बार पछाडना अथवा झाटकना नहीं, निचौना नहीं, थोडा या अधिक, एकबार या बारं-बार सूर्यादि के तापसे तपाना नहीं. इस प्रकार मैं करूँ नहीं, दूसरे से कहकर सचित्त जल की उपरोक्त वि-राधना करवाऊँ नहीं और ऐसी विराधना करने वाले की अनुमोदना भी कभी करूँ नहीं. यह सब जावजीव पर्यंत मन, वचन, कायासे त्रिविध २ स्वयं वैसे करना नहीं, दूसरेसे करवाना नहीं और करनेवाले को अच्छा भी जानना नहीं, कदाचित् जो पहिले वैसा हो गया हो तो वैसा करनेके पाप से आत्मा को दूर रक्खता हूँ. मैं अपनी आत्माकी साक्षीसे उसकी निंदा करता हूँ और गुरुकी साक्षी से गर्हा करता हूँ और इस प्रकार के विचारों से स्वात्मा को पाप कर्मसे वोसराता हूं ॥ २ ॥

मूल सूत्र—से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से अगणिं वा, इंगालं वा, मुम्मुरं वा, अच्चिं

या, जाल वा, अलाय वा, सुद्धागणिं वा, उक्क वा, न उजिज्जा, न घट्टिज्जा, न भिंदिज्जा, न उज्जालिज्जा, न पज्जालिज्जा, न निव्वाविज्जा, अन्न न उज्जाविज्जा, न घट्टाविज्जा, न भिंदाविज्जा न उज्जालाविज्जा न पज्जालाविज्जा, न निव्वाविज्जा, अन्न उज्जन्त वा, घट्टंत वा, भिदंतं वा, उज्जालंत वा, पज्जालंतं वा, निव्वावंतं वा, न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेण मणेणं वायाए काएण न करोमि न कारवेमि करतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि॥ ३॥

भावार्थ—अग्निके आरम्भ का निषेध और उसकी यत्ना—संयमी, तपमें लीन, प्रत्याख्यान से पापकर्मों को दूर करने वाले ऐसे साधु या साध्विया दिनमें या रात्रिमें, अकेलेमें या पर्षदा में, सोते हुए या जागते हुए—तपे हुये लोहेकी अग्नि, ज्वाला रहित अग्नि, अग्नि के कण, मूल अग्नि से छुटी हुई ज्वाला, मूल अग्नि के साथ जलती हुई ज्वाला, अलाडिये की अग्नि, अंगारे की अग्नि, उल्कापात की अग्नि प्रमुख सर्व जातिकी अग्नि काष्ट आदि से बढानी नहीं, हाथसे सस्कारना नहीं, धूल आदि वस्तुओं से भेदना नहीं, पंखा आदिकी हवा से थोड़ी या अधिक एकवार या वारवार बढानी नहीं और जल आदिसे नष्ट करना नहीं, यह स्वयं भी

न करना तथा दूसरे से भी न करवाना और जो कोई करता हो तो उसको अच्छा भी नहीं समझना, जावजीव पर्यंत मन, वचन, कायासे त्रिविध २ स्वयं यह करना नहीं, दूसरे से करवाना नहीं, और करने वाले को अच्छा भी जानना नहीं, कदाचित् जो पहिले वैसा हो गया हो तो वैसा करने के पाप से हे भगवन् मेरी आत्मा को दूररखताहूं, मैं अपनी आत्मा की साक्षी से उसकी निंदा करता हूं और गुरुकी साक्षीसे गर्हा करता हूं और इस प्रकारके विचारों से स्वात्मा के पाप कर्मों को वोसराता हूं ॥ ३ ॥

मूल सूत्रं—से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से सिएण वा, विहुयणेण वा, तालियंटेण वा, पत्तेण वा, पत्तभंगेण वा, साहाए वा, साहाभंगेण वा, पिहुणेण वा, पिहुणहत्थेण वा, चेलेण वा, चेलकण्णेण वा, हत्थेण वा, मुहेण वा, अप्पणो वा कायं, बाहिरं वा वि पुग्गलं न फुमिज्जा, न वीएज्जा, अन्नं न फुमाविज्जा, न वीआविज्जा, अन्नं फुमंतं वा, वीअंतं वा न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निन्दा गारिहामि अप्पाणं वोसिराभि ॥ ४ ॥

भावार्थ—वायुके आरंभ का निषेध और उसकी यत्ना—संयमी, तपस्यामें लिप्त, पच्चक्खाणकरके बुरे (पाप)कर्मों का नाश करने वाले ऐसे साधु अथवा साध्वियाँ दिनमें या रातमें, अकेलेमें या पर्षदामें, सोते हुयेमें या जागतेमें, चामरसे, पखेसे, ताडपत्रके पखेसे, कमल आदिके बडेपत्तोंसे, केल प्रमुखके पत्तोंके टुकडोंसे, वृक्षकी शाखासे, साखाके टुकडोंसे, मोरपखसे, मोरपखकी पूंजनीसे, वस्त्रसे, वस्त्रके टुकडोंसे, हाथसे, मुंह से अपने शरीरको अथवा किसी उष्णादि पुद्गलको फूकना नहीं, वींजना डालना नहीं (पंखाचलाना नहीं), अन्य से फुंकवाना नहीं, पखाचलवाना नहीं और जो फूंकता हो अथवा पखा करता हो उसे अच्छा भी समझना नहीं जब तक शरीरमें प्राणहैं तब तक मन वचन कायासे त्रिविध २ स्वयं करना नहीं दूसरे से करवाना नहीं और करता हो उसका अनुमोदन भी करना नहीं कदाचित् जो अतीत कालमें वैसा किया हो तो उससे हे भगवन् मेरी आत्मा को अलग रखताहूँ, मैं स्वात्माकी साक्षीसे उसकी निंदा करताहूँ, गुरुकी साक्षीसे गर्हा करताहूँ और ऐसे विचारोंसे अपनी आत्माको पापकारी कर्मोंसे अलग करताहूँ ॥ ४ ॥

मूल सूत्रं—से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा, सयज-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा,

एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से बीएसु वा, बीयपइट्ठेसु वा, रूढेसु वा, रूढपइट्ठेसु वा, जाएसु वा, जायपइट्ठेसु वा, हरिएसु वा, हरियपइट्ठेसु वा, छिन्नेसु वा, छिन्नपइट्ठेसु वा, सचित्तेसु वा, सचित्त-कोलपडिनिस्सिएसु वा, न गच्छेज्जा, न चिट्ठेज्जा, न निसीइज्जा, न तुअट्टिज्जा, अन्नं न गच्छाविज्जा, न चिट्ठाविज्जा, न निसीआविज्जा, न तुअट्टाविज्जा, अन्नं गच्छंतं वा, चिट्ठंतं वा, निसीअंतं वा, तुयट्टंतं वा न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ ५ ॥

भावार्थः—वनस्पति काय के आरम्भ का निषेध और उसकी यत्ना—संयमी, तपस्या में लिप्त, प्रत्याख्यान से पापकारी कर्मों को दूर हटानेवाले साधु अथवा साध्वियां, दिनमें या रात्रिमें, अकेले में या मनुष्यों की सभा में, सोते हुये में अथवा जागते हुये में; शाली प्रमुखके बीजके ऊपर अथवा बीजवाली वस्तु के ऊपर रखेहुए आसनादिके ऊपर, जिसमें अंकुर निकलगये हों उसके ऊपर अथवा अंकुरवाली वस्तुपर रहेहुए आसनादि के ऊपर, अन्न के क्षेत्र (ढेर) के ऊपर अथवा अन्न के क्षेत्रके ऊपर रहे हुए आसनादि के ऊपर, हरे घास-पत्ते

आदि के ऊपर अथवा हरे घास आदि के ऊपर रहे हुए आसनादि के ऊपर, हरे वृक्षआदि की छेदी हुई डाली पर या हरे वृक्षादि की डाली पर रहे हुए आसनादि के ऊपर, गुच्छों के ऊपर या गुच्छों वाली वस्तु के ऊपर रहे हुए आसनादि के उपर, घुंण वाले काष्ठादि के ऊपर या अडे वाली वस्तु के ऊपर अथवा घुण-अंडादि वाली वस्तु पर रहे हुए आसनादि के ऊपर जाना नहीं आना नहीं, बेठना नहीं, खडा रहना नहीं, सोना नहीं, दूसरे को कह कर चलाना नहीं, बिठाना नहीं, खड़ा रखवाना नहीं, सुलाना नहीं और इस प्रकार जो कोई जाता, खडा रहता, बेठता अथवा शयन करता हो तो उसे अच्छा भी नहीं जानना जबतक प्राण धारण किये हैं तबतक मन, वचन, कायासे त्रिविध २ स्वयं ऐसे करना नहीं, अन्यसे करावाना नहीं, और कोई करताहो तो उसका अनुमोदनभी करनानहीं, कदाचित् जो भूतकालमें ऐसा कियाहो तो उससे हे भगवन् आत्मा का छुटकारा करता हूं, मैं स्वात्माकी साक्षीसे इन पाप कर्मोंको निंदता हू, गुरु की साक्षी से गर्हा करता हूं और ऐसे विचार कर अपनी आत्मा को पाप कर्मोंसे वोसराता (अलग करता) हू ॥ ५ ॥

मूल सूत्रं—से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे; दिआ वा, राओ वा, ए

गओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से कीडं वा, पयंगं वा, कुंथुं वा, पिपीलियं वा, हत्थंसि वा, पायंसि वा, बाहुंसि वा, उरुंसि वा, उदरंसि वा, सीसंसि वा, वत्थंसि वा, पडिग्गहंसि वा, कंबलंसि वा, पायपुच्छणंसि वा, रयहरणंसि वा, गुच्छगंसि वा उंडगंसि वा, दंडगंसि वा, पीढगंसि वा, फलगंसि वा, सेज्जंसि वा, संथारगंसि वा, अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिअ पमज्जिअ एगंतमवणिज्जा, नो णं संघायमावज्जिज्जा ॥ ६ ॥

भावार्थः—(त्रसजीवोंकी यत्ना) संयमी, तपस्यामें लीन, पच्चक्खाण करके पाप कर्मोंका नाश करने वाले साधु अथवा साध्वियां दिनमें या रात्रिमें, अकेलेमें या समुदायमें, सोतेमें या जाग्रत अवस्थामें; उनको कीड़ा, पंतगीयां, कुंथुंवे, कीडीयाँ, आदि जीव हाथमें, पगमें, बाहुमें, साथल (जांघ) में, उदर (पेट) में, शिरमें, वस्त्र में, पात्र में, कम्बल में, पादपुच्छन में, रजोहरणमें, गुच्छामें, उदकमें (तरपणी आदि अथवा मात्राके वर्तनमें) दंडामें, बाजोट (चौकी) में, पाटियामें, वास्तिमें, संथारामें और अन्यभी दूसरे साधुकेजो उपकरणहो उनमें किसी स्थानसे जीव आकर चढें हों तो उनको यत्नपूर्वक देखकर, पडिलेहनकरके२, प्रमार्जनकरके२, एकांत स्थानमें

छोडने चाहियें, परन्तु उनको इकठेकरके कष्टदेना अथवा घातकरना नहीं ॥ ६ ॥ यह षट्काय रक्षण विस्तारपूर्वक कहा, अब इस सबंधमें साधुको गाथार्थकरके उपदेश कहतेहैं ॥ ६ ॥

मूल सूत्र—अजयं चरमाणो अ, पाण–भूयाइं हिंसइ । बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअ फल ॥ १ ॥ अजय चिट्ठमाणो अ, पाण–भूयाइं हिंसइ । बन्धइ पावय कम्म, तं से होइ कडुअ फलं ॥ २ ॥ अजयं आसमाणो अ, पाण–भूयाइं हिंसइ । बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअ फल ॥३॥ अजय सयमाणो अ, पाण-भूयाइ हिंसइ । बन्धइ पावय कम्म, तं से होइ कडुअ फल ॥ ४ ॥ अजय भुजमाणो अ, पाण–भूयाइं हिंसइ । घन्धइ पावय कम्म, तं से होइ कडुअ फल ॥ ५॥ अजय भासमाणो अ, पाण–भूयाइ हिंसइ । बन्धइ पावयं कम्म, त से होइ कडुअ फल ॥ ६ ॥

भावार्थः—(उपदेशरूप पाचमा अधिकार) जो साधु साध्वी इर्यासमिति (देखकरचलना) को उल्लंघन करके अयत्नासे, अर्थात्–प्रकाशित स्थानमें देखे बिना और अप्रकाशितमें पूजे-प्रमार्जेबिना चलतेहैं वह वे इन्द्रयादि प्राण (त्रसजीव) तथा एकेंद्रिय वनस्पत्यादिक भूत (स्थावर)की हिंसा करतेहैं इससे उनको पाप

कर्म बंधतेहैं और उसके कटुक (दुःसहनीय भयंकर) फल उनको भोगने पडतेहैं ॥ १ ॥ हाथ पैर आदिको उपयोग विना स्थापनकरने रूप अयत्नासे खडेरहनेवाले प्राण भूत (जीवों) की हिंसा करतेहैं इससे पापकर्म का बंध होताहै जिसके कटुकफल उन्हें भोगने पडतेहैं ॥ २ ॥ हाथ पैर आदिको संकोचेबिना (उपयोगविना) अयत्नासे अर्थात्–बिनापूंजे बिनादेखे जीववाले स्थानपर बैठें, जिससे वह प्राण भूतकी हिंसा करतेहैं उससे कर्मका बंध होनेसे उसके उनको कटुक फल भोगने पडतेहैं ॥ ३ ॥ अजयणा बिना यत्नासे शयन करनेवाले (दिनको सोना) तथा रात्रिको पूंजे बिना करवट वगैर फेरतेहुए प्राण–भूतकी हिंसा करतेहैं उससे बंधेहुये कर्मों का कटुक फल उनको भोगना पड़ता है ॥ ४ ॥ प्रयोजन के विनाही रस सहित आहार करते समय अलग २ थोड़ा २ खाना, छींटे पटकना प्रमुख अयत्ना से प्राण–भूत की हिंसा करतेहैं और पाप कर्मों का बंधन करतेहैं जिनका कटुक फल भोगना होता है ॥ ५ ॥ निष्ठुर–कठोर और गृहस्थकी भाषा बोलनेरूप अयत्ना से बोलने से प्राण–भूत की घात होती है, जिसके कर्म बंधन से कटुक फल भोगने पडते हैं ॥ ६ ॥

मूल सूत्रं—कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए। कहं भुंजन्तो भासंतो, पावकम्मं न बन्धइ ॥ ७ ॥

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए । जयं भुंजन्तो भासंतो, पावकम्मं न बन्धइ ॥ ८ ॥ सव्वभूयप्पभूय-
स्स, सम्मं भूयाइ पासओ । पिहिआसवस्स दंतस्स, पावकम्म न बन्धइ ॥ ९ ॥ पढम नाणं तओ दया, एव
चिट्ठइ सव्वसजए । अन्नाणी किं काही, किंवा नाही छेय पावगं ॥ १० ॥ सोच्चा जाणइ कल्लाण, सोच्चा जा-
णइ पावगं । उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेय त समायरे ॥ ११ ॥ जो जीवे वि न याणइ, अजीवे वि न या-
णइ । जीवाजीवे अयाणतो, कहं सो नाहीइ संजम ॥ १२ ॥ जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ । जी-
वाजीवे वियाणतो, सो हु नाहीइ संजम ॥ १३ ॥ जया जीवमजीवे य, दोवि एए वियाणइ । तया गइ बहुवि-
हं, सव्व जीवाण जाणइ ॥ १४ ॥

भावार्थ.—शिष्य गुरु से प्रश्न करता है कि हे भगवन्! पूर्वोक्त कारणों से कर्म बन्धन होता है तो ह-
मको कैसे चलना चाहिये ? कैसे खडा रहना चाहिये ? कैसे बैठना चाहिये ? किस प्रकार शयन करना
चाहिये ? किस प्रकार आहार करना चाहिये ? और किस प्रकार बोलना चाहिये ? कि जिससे कर्म का ब-
धन न हो ॥ ७ ॥ गुरु महाराज उत्तर देते हैं कि हे शिष्य ! ईर्यासमिति युक्त यत्नापूर्वक चले, हाथ पैर

आडे अवले फेंके बिना यत्नापूर्वक खड़े रहे, उपयोग पूर्वक शरीरको संकोचन रूप यत्ना से बैठे, समाधि पूर्वक और थोडे समय तक यत्ना पूर्वक शयन करे, प्रयोजन होने पर कुछ भी आहार को फेंके बिना यत्नासे एषणा समिति पूर्वक आहार लाकर करे, कोमल; अवसरानुसार और साधुकी भाषाको यत्नासे भाषासमिति पूर्वक बोले तो हे शिष्य ! इस प्रकार करने वाले को पाप कर्म का बंधन नहीं होता है ॥ ८ ॥ हे शिष्य ! सर्वजीवों को स्वात्माके समान माननेवाले तथा वीतराग परमात्मा की कही हुई विधिके अनुसार पृथ्वीकायादि के जीवों को देखनेवाले, पांच आश्रवों का त्याग करने वाले और इन्द्रियों का दमन करनेवाले साधुजन पाप कर्मका बन्धन नहीं करते हैं ॥ ९ ॥ यह उपदेश सुनकर शिष्य कहता है कि हे भगवन् ! इसलिये तो सब जीवोंकी दयाही पालनी चाहिये, ज्ञान पढ़ने का क्या काम है ? इस प्रकार बोलते हुये शिष्यको गुरु उत्तर देते हैं कि हे शिष्य प्रथम ज्ञान और फिर दया है, अर्थात्—जीव अजीवादिक का ज्ञान होनेसेही छः जीवनिकायकी दया पाली जा सकती है. इस प्रकार से सर्व साधु वर्ग चलते हैं, क्योंकि इस तरह ज्ञानसे दया पालनेसे साधु सर्वथा संयमी होते हैं। इसके विपरीत अज्ञानी क्या करेगा, क्योंकि वह तो अंध समान है वह अच्छे बुरे अथवा

पुण्य पाप को किसी प्रकार नहीं जान सकता है इसलिये प्रथम ज्ञानही आवश्यक है॥ १० ॥ शास्त्र श्रवण करने से अपनी आत्मा के कल्याण का मार्ग,)अर्थात्—दया तथा संयम का स्वरूप मालूम होता है और शास्त्र के श्रवण करने से ही पापका मार्ग अर्थात्—असंयम का स्वरूप भी मालूम होता है, दोनों पथ शास्त्र सुनने से ही मालूम होते हैं। इसलिये इन दोनोंमें जो अच्छा कल्याण कारी हो उसका आचरण करना चाहिये ॥ ११ ॥ हे शिष्य ! जो जीव को भी जानता नहीं है और अजीवको भी जानता नहीं है वह जीव अजीव दोनों को जानता नहीं तो वह संयम को किस प्रकार जानेगा पालेगा ? ॥ १२ ॥ जो जीवको जानता है, वो अजीव को भी जानता है, ऐसे जीव अजीव दोनों को जानता है, इसलिये वह निश्चय करके संयम को भी जानेगा पालेगा ॥ १३ ॥ जब कोई जीव और अजीव इन दोनों को विशेष रूपसे जानेगा, तब सर्व जीवों की नाना प्रकार की गति को भी जानेगा ॥ १४ ॥ [illegible]

मूल सूत्र—जयागइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ। तया पुण्णं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ ॥ १५ ॥ जया पुण्णं च पावं च, बंध मुक्खं च जाणइ। तया निव्विंदए भोगे, जे दिव्वे जे य माणुसे ॥ १६ ॥ जया नि-

व्विंदए भोगे जे दिव्वे जे य माणुसे। तया चयइ संजोगं, सब्भिन्तरं बाहिरं ॥ १७ ॥ जया चयइ संजोगं, सब्भिन्तरं बाहिरं। तया मुंडे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं ॥ १८ ॥ जया मुंडे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं। तया संवरमुक्किठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ॥ १९ ॥ जया संवरमुक्किठं, धम्मं फासे अणुत्तरं। तया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं ॥ २० ॥ जया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं। तया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ॥ २१ ॥ जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ। तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥ २२ ॥

भावार्थः—जब सर्व जीवों की नाना प्रकार की गति को वो जानेगा तो पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष को भी वो जानेगा ॥ १५ ॥ जब पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष को जानेगा तब देवता और मनुष्य संबंधी शब्दादि विषयों को असार (दुःख रूप) जानेगा ॥ १६ ॥ जब देवता और मनुष्य संबंधी भोगों को असार जानेगा तब बाह्य (सुवर्णादि तथा कुटुम्बादि), अभ्यंतर (क्रोधादि) संयोगों का त्याग करेगा ॥ १७ ॥ जब बाह्य और अभ्यंतर संयोगों का त्याग करेगा तब द्रव्य और भावसे मुंडित होकर अणगार साधूके धर्मको अंगीकार

करेगा ॥ १८ ॥ जब मुडित होकर अणगार धर्म को अंगीकार करेगा तब यह उत्कृष्ट संवर रूप (प्राणातिपात निवृतिरूप) अनुत्तर धर्मको स्पर्शेगा पालन करेगा॥ १९ ॥ जब उत्कृष्ट संवररूप अनुत्तर धर्म को स्पर्शेगा, तब मिथ्यात्व दृष्टिसे अगीकार किये हुये कर्मरूप रज का नाश करेगा ॥ २० ॥ जब मिथ्यात्व दृष्टिसे अगीकार किये हुये कर्मों का नाश करेगा तब वह सर्व व्यापी केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त करेगा ॥२१॥ जब सर्व व्यापी ज्ञान-दर्शन को प्राप्त करेगा, तब वह राग द्वेष जीतनेवाला जिन, केवली बन कर लोका-लोक के स्वरूप को जानेगा ॥ २२ ॥

मूल सूत्रं—जया लोगमलोग च, जिणो जाणइ केवली। तया जोगे निरुभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ॥ २३ ॥ जया जोगे निरुभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ। तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥ २४ ॥ जया कम्मं खवित्ताण, सिद्धिं गच्छइ नीरओ। तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥ २५॥ सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स। उच्छोलणापहोअस्स, दुल्लहा सुगई तारिसगस्स ॥ २६ ॥ तवोगुणपहाणस्स, उज्जुमइ खन्तिसजमरयस्स। परीसहे जिणतस्स, सुलहा सुगई तारिसगस्स ॥ २७ ॥ पच्छा वि ते पयाया,

खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं । जेसिं पिओ तवो संजमो अ, खंती अ बंभचेरं च ॥ २८ ॥ इच्चेयं छज्जीवणि-अं, सम्मद्दिट्ठी सयाजए । दुल्लहं लहित्तु सामण्णं, कम्मुणा न विराहिज्जासि ॥ त्ति बेमि ॥ २९ ॥

॥ इअ छज्जीवणिआ णामं चउत्थं अज्झयणं समत्तं ॥ ४ ॥

भावार्थः— जब जिन केवली बन कर लोक और अलोकके स्वरूपको जानेगा तब मन वचनादि योगोंको रोककर शैलेशीपना (पर्वतसम योगोंकी स्थिरता) को अंगीकार करेगा ॥ २३ ॥ जब योगोंका निरुंधन (योगो-को रोकना) करके शैलेशीपना अंगीकार करेगा तब सब कर्म खपाकर कर्म रजरहित होकर मोक्षमें जावेगा ॥ २४ ॥ जब सब कर्म खपाकर कर्मरूप रज (धुल) रहित होकर मोक्षमें जावेगा तब वह तीन लोकके चौदह राज लोकके (मस्तक) ऊपर विराजमान होकर शाश्वत सिद्ध होगा ॥ २५ ॥ अब ऐसे प्रमादी साधुओंको धर्मका फल दुर्लभ है वह बतलाते हैं–प्राप्तहुए सुख शब्दादि विषयोंका आस्वादन करनेवाला, द्रव्य प्रव्रज्या वेशमात्रको धारण करने वाला, भविष्यके सुखकेलिये आकुल व्याकुल (चिंतातुर) होनेवाला, सूत्रमें कहेहुए समयको उल्लंघकर निरंतर शयन करनेवाला, पानीसे अयत्नापूर्वक पग प्रमुख अंगोकी शुद्धि

करनेवाला इसप्रकार भगवान्की आज्ञाके लोप करनेवालेको सुगति दुर्लभहै ॥२६॥ अब ऐसे साधुओंको सुगति सुलभहै—छठ (वेला), अठमादि (तेला आदि) तपस्या करनेवाला, मोक्षमार्गमें प्रवृत होनेकी बुद्धिवाला, क्षमा जिसके प्रधानहै, सयममें लिप्त, परिसहों (कष्टों) को जय करनेवाला, ऐसे मनुष्यको सुगति सुलभ होती है ॥ २७ ॥ जिसको तप, सयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य्य प्रियहै, वह जो कि वृद्धावस्थामें दीक्षा लेताहै तोभी वह जल्दी देवलोक में जाताहै ॥ २८ ॥ निरंतर यत्नामें तत्पर, सम्यग् दृष्टि, दुर्लभ श्रमणपणा (साधु पना) को प्राप्तकरके मन, बचन, कायासे इस षट्कायाके जीवोंकी जयणा (यत्ना) कर प्रमादसे विराधना नहीं करनी चाहिये ॥ २९ ॥ इस प्रकार श्रीसुधर्मास्वामी, अपने शिष्य जबूस्वामीसे कहते हैं ॥

॥ इति छ. जीवनिकाय नामक चतुर्थ अध्ययन संपूर्ण ॥ ४ ॥

॥ अह पिंडेसणा णामं पंचमसज्झयणं ॥

मूल सूत्रं—संपत्ते भिक्खकालम्मि, असंभतो अमुच्छिओ । इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥ १ ॥ से गामे वा नगरे वा, गोअरग्गगओ मुणी । चरे मदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेअसा ॥२॥ पुरसो जुगमायाए,

पेहमाणो महिं चरे। वजंतो वीअ–हरियाइं, पाणे अ दगमट्टिअं ॥ ३ ॥ ओवायं विसमं खाणुं, विज्जलं परिवज्जए। संकमेणं न गच्छिज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥ ४ ॥ पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए। हिंसेज्ज पाण–भूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥ ५ ॥

भावार्थः—चौथे अध्ययनमें साधुका आचारवताया गयाहे, वह आचार शरीरकी आरोग्यता पर निर्भरहे यदि शरीरस्वस्थहो तो आचार वनसकताहे, शरीरका आरोग्य आहारके विनानहीं होसकताहे; इसलिये प्रथम शुद्ध आहार ग्रहण करनेकी रीति वतातेहें–भिक्षाकाल प्राप्त होनेपर (जो कि आगे वताया जावेगा) निम्नोक्त अनुक्रमसे आकुलता रहित और भोजनकी लुब्धतारहित मुनि अशन, पान (गोचरी) की गवेपणा करे ॥ १ ॥ ग्राम या नगरमें गोचरी जाताहुआ साधु शनै २, उद्वेग रहित और चित्तकी आकुलता व्याकुलता रहित उपयोग पूर्वक चले ॥ २ ॥ वीज, हरित (लीलोतरी), जल, मिट्टी और वेइंद्रिय प्रमुखको नहीं दवातेहुए, आगे धुंसरा (जुग-चारहाथ) प्रमाण दृष्टिसे देखताहुआ साधु पृथ्वीपर गमनकरे ॥ ३ ॥ मार्गमें चलते हुए यदि खड्डा अथवा खड्डामें खडाकिया हुआ स्थंभ, पानीके विनाका कीचड़ और नदी वगैरह उत्तरनेकेलिये पत्थर या

काष्ट रक्खेहों तो जहांतक सीधा और अच्छा मार्ग मिले, वहां तक उस मार्गसे उत्तरना या जाना नहीं ॥ ४ ॥ क्योंकि ऐसे मार्गसे उतरतेहुए कदाचित् साधु गिरजाय या स्खलना पामे (पैर चुकजावे) तो उससे प्राण भूत यानी–त्रस, स्थावर की हिंसा हो अथवा अपने हाथ-पैर तोड़ ले ॥ ५ ॥

मूल सूत्र—तम्हा तेण न गच्छिज्जा, संजए सुसमाहिए। सइ अण्णेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥ ६ ॥ इंगाल छारियं रासिं, तुसरासिं च गोमयं। ससरक्खेहिं पाएहिं, संजओ त नइक्कमे ॥ ७ ॥ न चरेज्ज वासे वासते, महियाए व पडतिए। महावाए व वायते, तिरिच्छसपाइमेसु वा ॥ ८ ॥ न चरेज्ज वेससामते, बंभचेरवसाणुए। बभयारिस्स दतस्स, होज्जा तत्थ विसोत्तिआ ॥ ९ ॥ अणाययणे चरंतस्स, ससग्गीए अभिक्खणं। होज्जा वयाणं पीला, सामण्णम्मि अ संसओ ॥ १० ॥

भावार्थः—इसकारणसे भगवान्की आज्ञाके पालनकरनेवाले संयमी और समाधिवान् साधुओंको जहां तक दूसरा अच्छा सीधामार्ग हो, वहांतक उसपर चलना नहीं चाहिये, जो दूसरा मार्ग न मिले तो बहुत यत्नापूर्वक उसमार्गसे जाना चाहिये ॥ ६ ॥ मार्गमें चलतेहुए कोयलोंके अंगारोंके ढेरपर, राखके ढेरपर, तुषके

पेहमाणो महिं चरे। वज्जंतो बीअ–हरियाइं, पाणे अ दगमट्टिअं ॥ ३ ॥ ओवायं विसमं खाणुं, विज्जलं परिवज्जए। संकमेणं न गच्छिज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥ ४ ॥ पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए। हिंसेज्ज पाण–भूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥ ५ ॥

भावार्थः—चौथे अध्ययनमें साधुका आचारबताया गयाहै, वह आचार शरीरकी आरोग्यता पर निर्भरहै यदि शरीरस्वस्थहो तो आचार बनसकताहै, शरीरका आरोग्य आहारके बिनानहीं होसकताहै; इसलिये प्रथम शुद्ध आहार ग्रहण करनेकी रीति बतातेहैं–भिक्षाकाल प्राप्त होनेपर (जो कि आगे बताया जावेगा) निम्नोक्त अनुक्रमसे आकुलता रहित और भोजनकी लुब्धतारहित मुनि अशन, पान (गौचरी) की गवेषणा करे ॥ १ ॥ ग्राम या नगरमें गौचरी जाताहुआ साधु शनै २, उद्वेग रहित और चित्तकी आकुलता व्याकुलता रहित उपयोग पूर्वक चले ॥ २ ॥ बीज, हरित (लीलोतरी), जल, मिट्टी और बेइंद्रिय प्रमुखको नहीं दबातेहुए, आगे धुंसरा (जुग-चारहाथ) प्रमाण दृष्टिसे देखताहुआ साधु पृथ्वीपर गमनकरे ॥ ३ ॥ मार्गमें चलते हुए यदि खड्डा अथवा खड्डामें खडाकिया हुआ स्थंभ, पानीके बिनाका कीचड़ और नदी वगैरह उत्तरनेकेलिये पत्थर या

काष्ट रक्खेहों तो जहांतक सीधा और अच्छा मार्ग मिले, वहां तक उस मार्गसे उत्तरना या जाना नहीं ॥ ४ ॥ क्योंकि ऐसे मार्गसे उतरतेहुए कदाचित् साधु गिरजाय या स्खलना पामे (पैर चुकजावे) तो उससे प्राण भूत यानी–त्रस,स्थावर की हिंसा हो अथवा अपने हाथ-पैर तोड ले ॥ ५ ॥

मूल सूत्रं—तम्हा तेण न गच्छिज्जा, सजए सुसमाहिए । सइ अण्णेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥ ६ ॥ इंगालं छारियं रासिं, तुसरासिं च गोमयं । ससरक्खेहिं पाएहिं, सजओ त नइक्कमे ॥ ७ ॥ न चरेज्ज वासे वासते, महियाए व पडंतिए । महावाए व वायते, तिरिच्छसपाइमेसु वा ॥ ८ ॥ न चरेज्ज वेससामते, बंभचेरवसाणुए । बभयारिस्स दतस्स, होज्जा तत्थ विसोत्तिआ ॥ ९ ॥ अणायणे चरतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं । होज्जा वयाणं पीला, सामण्णम्मि अ ससओ ॥ १० ॥

भावार्थः—इसकारणसे भगवान्‌की आज्ञाके पालनकरनेवाले संयमी और समाधिवान् साधुओंको जहां तक दूसरा अच्छा सीधामार्ग हो, वहातक उसपर चलना नहीं चाहिये, जो दूसरा मार्ग न मिले तो बहुत यत्नापूर्वक उसमार्गसे जाना चाहिये ॥ ६ ॥ मार्गमें चलतेहुए कोयलोंके अंगारोंके ढेरपर, राखके ढेरपर, तुषके

(फुतरे) के ढेरपर और गोबरके ढेरपर सचित्त रजसे भरेहुए पाँव रखकर साधुको नहीं चलना चाहिये ॥ ७ ॥ वर्षावरसरहीहो, धुंसर (धूम, ओस) पड़ती हो, वायु तेज चलतीहो, धूल उड़ती हो तथा संपातिम पंतगीयाँ, मक्खी, मच्छरादि जीव बहुत उड़ते हों तो साधुको गोचरीको नहीं जाना चाहिये, यदि गये बाद ऐसाहुआ हो तो कोई ढकीहुई अच्छी जगहहो वहां खड़ा रहना चाहिये ॥ ८ ॥ जहां ब्रह्मचर्य्य का नाश होना संभव होवे ऐसे वैश्याके घरके समीप साधुको जाना योग्य नहीं, वहां जानेसे इन्द्रियोंको जयी (वश) करनेवाले ब्रह्मचारी पुरुषको (वैश्याके रूपको देखना, स्मरण करना आदि अशुभ ध्यानोंसे) ब्रह्मचर्य्य में विकार पैदा होता है ॥ ९ ॥ बारम्बार वैश्या प्रमुख के मोहल्ला में जाते हुए, उसका संसर्ग होनेसे व्रत नष्ट होताहे और उसके चारित्रमें संशय होताहे ॥ १० ॥

मूल सूत्रं—तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं । वज्जए वेससामन्तं, मुणी एगंतमास्सिए ॥ ११ ॥ साणं सूइअं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं । संडिब्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥ १२ ॥ अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले । इंदिआइं जहाभागं, दमइत्ता मुणी चरे ॥ १३ ॥ दवदवस्स न गच्छे-

ज्जा, भासमाणो अ गोअरे । हसन्तो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया ॥ १४ ॥ आलोअं थिग्गल दार, सधिं दगभवणाणि अ । चरन्तो न विणिज्झाए, संकट्ठाण विवज्जए ॥ १५ ॥

भावार्थः—इस हेतु से मोक्ष मार्गका आश्रय करने वाले मुनि, वैश्या रहती हो उस स्थान में गमनागमन करने के दोषों को दुर्गति बढ़ानेवाले जानकर वैश्या के निवास और मुहल्ले में जाने का त्याग करे, अर्थात्–उस मार्ग में जावे नहीं ॥ ११ ॥ मार्ग में जातेहुए साधुको श्वान, नये प्रसव वाली (व्याई हुई) गाय, मदोन्मत्त बैल, घोड़ा, हाथी, बालकोंके क्रीडा करनेके स्थान, क्लेशका स्थान और जहा युद्ध होता हो ऐसे स्थानोंका दूरसे ही त्याग करना चाहिये ॥ १२ ॥ रास्तामें जातेहुए साधुको अधिक ऊँचा देखना नहीं, अधिक नीचा भी झांकना नहीं, लाभादि (मनोज्ञ आहारादि की प्राप्ति) होने पर हर्ष भी करना नहीं, तथा कुछभी न मिलने पर क्रोधादि से व्याकुल भी होना नहीं, परन्तु जिस प्रकार होसके, उसतरह अपने आत्मा में सर्व इन्द्रियोंका दमन करके चलनाचाहिये ॥ १३ ॥ उच्च (धनवान्) अथवा नीच (दरीद्री) कुलमें गौचरी जातेहुए साधुको जल्दी २ चलना नहीं, तथा वातें करते हुएभी जाना नहीं, तथा हँसते २ भी न-

हीं जाना चाहिये ॥ १४ ॥ गोचरीके लिये गयेहुए साधुको गृहस्थोंके घरके गवाक्ष, दीवारमें ढके (बँध) किये हुए दरवाजे, घरकी संधियां और पानी रखनेके स्थान आदिको दृष्टि लगाकर देखना उचित नहीं क्योंकि यह सर्व शंका उत्पन्न करनेवाले स्थान हैं,. यदि चोरी प्रमुख होजाय तो देखनेवाले के ऊपर शक हो जाताहै. इसलिये यह स्थान देखने योग्य नहीं हैं ॥ १५ ॥

मूल सूत्रं—रन्नो गिहवईणं च, रहस्सारक्खियाण य । संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥ १६ ॥ पडिकुट्ठं कुलं न पविसे, मामगं परिवज्जए । अचियत्तं कुलं न पविसे, चियत्तं पविसे कुलं ॥ १७ ॥ साणीपावारपिहिअं, अप्पणा नावपंगुरे । कवाडं नो पणुल्लिज्जा, उग्गहंसि अजाइआ ॥ १८ ॥ गोअरग्गपविट्ठो अ, वच्चमुत्तं न धारए । ओगासं फासुअं नच्चा, अणुन्नविय वोसिरे ॥ १९ ॥ णीयं दुवारं तमसं, कुट्ठगं परिवज्जए । अचक्खुविसओ जत्थ, पाणा दुप्पडिलेहगा ॥ २० ॥

भावार्थ—गौचरी जातेहुए साधुको राजा, गृहपति, और कोतवाल प्रमुखके रहस्य गुप्त स्थानोंमें जाना नहीं तथा क्लेश करनेवाले स्थानों का दूरसे त्याग करना चाहिये ॥ १६ ॥ सूतकवाले घर, मलीन लोगोंके घर, गृह-

स्वामीके निषेध कियेहुए घर और साधुपर अप्रीति करनेवाले घरमें साधुको गौचरी आदि कार्यकेलिये प्रवेश करना योग्यनहीं, परन्तु इनसे विपरीत गृहोंमें गौचरी आदि कार्योंकेलिये जाना योग्यहै ॥ १७ ॥ गृहस्वामीकी आज्ञा मांगेविना वास आदिकी टट्टी, टाटके परदे आदिसे बन्दकियेहुये, कम्बली प्रमुखसे ढाकेहुये और दरवाजे आदिके किवाड बन्द कियेहुये घरोंको खोलना नहीं, उनको धक्का प्रमुख देनानहीं ॥ १८ ॥ गौचरी गयेहुये साधुको बड़ी नीति तथा लघु नीति (टट्टी तथा पेशाब) रोग बढ़ानेके हेतु होनेसे रोककर रखने नहीं चाहिये परतु जीव रहित, खुल्ली भूमिका में उसके स्वामिकी आज्ञा लेकर उसे वोसरावे; अर्थात्—बाधा से निवृते (यदि शीघ्रताहो तो करले), (प्रथम गौचरी जानेसे पहले, ठल्ले, मात्रे जाकर आये बादमें गौचरी जाना परतु रोगादि कारणसे गौचरी जाने पर यदि वहां बाधा उपस्थित होजावे तो उसके लिये यह विधि है) ॥ १९ ॥ जहां बहुत नीचा झुकना पड़े, तथा अंधेरेवाले कोठे, भोंयरे, ऐसे कमरे आदि में गौचरी जाना योग्य नहीं हैं। क्योंकि वहां चक्षुका विषय न होनेसे ईर्यासमिति का देखना नहीं होसकता। और उसकी जयणा नहीं होसकती है ॥ २० ॥

मूल सूत्रं—जत्थ पुप्फाइं बीआइं, विप्पइन्नाइं कोट्ठए । अहुणोवलित्तं उल्लं, दट्ठूणं परिवज्जए ॥ २१ ॥ एलगं दारगं साणं, वच्छगं वा वि कुट्ठए । उल्लंघिआ न पविसे, विउहुत्ताण व संजए ॥ २२ ॥ असंसत्तं पलोइज्जा, नाइदूरावलोअए । उप्फुल्लं न विणिज्झाए नियट्टिज्ज अयंपिरो ॥ २३ ॥ अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोअरग्गगओ मुणी । कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मियं भूमिं परक्कमे ॥ २४ ॥ तत्थेव पडिलेहिज्जा, भूमिभागविअक्खणो । सिणाणस्स य वच्चस्स, संलोगं परिवज्जए ॥ २५ ॥

भावार्थः—जिस घरके दरवाजे पर पुष्प और बीज आदि अलग २ बिखरें पडे हों तथा ताजा लीपा हुआ स्थान हो तो उसको देखकर उसघर में जाना नहीं ॥ २१ ॥ घरके द्वारपर मेंढक, कुत्ता या बच्छड़ा बैठा हो तो उसको उल्लंघनकर या बाहर निकालकर या उठाकर घरमें प्रवेश करना नहीं ॥ २२ ॥ गौचरी गये हुए साधुको गृहस्थके घर स्त्री जातिपर मेषोन्मेष आंखसे आंख मिलानेरूप दृष्टि नहीं डालना चाहिये, सामान्य से अपना कार्य वाली (आहारादि) वस्तुका अवलोकन करना कि यह शुद्ध है अथवा नहीं, तथा उसकेघरमें दीर्घदृष्टिसे दूरकी वस्तुओं को देखना नहीं, उसके कुटुम्ब आदिको विकस्वर नेत्रसे देखना नहीं,

और आहारादि न मिलने पर निंदनीय अथवा दीन वचनभी बोले विना वापिस चला जाना चाहिये ॥ २३ ॥ गृहस्थके घर भिक्षार्थ गयेहुये साधुको उत्तम कुलकी नियमित भूमिकी सीमाको जानकर, गृहस्थकी आज्ञा विना घरमें आगे जाना नहीं, परतु जहां दूसरे भिक्षार्थ जाने वालोंको आज्ञा हो वहा तक जाके खड़ा रहना योग्य है ॥ २४ ॥ गृहस्थके नियमित भूमि भागको पडिलेहुण कर (देख कर) खड़े हुये विचक्षण साधुको गृहस्थके स्नान करनेके, वडी नीति (पाखाना) करनेके स्थान देखनेमें आते हों तो उस स्थान का उसको शीघ्र त्याग करना चाहिये ॥ २५ ॥

मूल सूत्र—दगमट्टिअआयाणे, वीआणि हरिआणि अ । परिवज्जतो चिट्ठिज्जा, सव्विंदिअसमाहिए ॥ २६ ॥ तत्थ से चिट्ठमाणस्स, आहारे पाण–भोअण । अकप्पिअ न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्जा कप्पिअं ॥ २७ ॥ आहारन्ती सिआ तत्थ, परिसाडिज्ज भोअणं। दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥ २८ ॥ संमद्दमाणी पाणाणि, वीआणि हरिआणि अ । असंजमकरिं नच्चा, तारिसिं परिवज्जए ॥ २९ ॥ साहट्टु निक्खिवित्ता णं, सचित्त घट्टियाणि य । तहेव समणुट्ठाए, उदगं संपणुल्लिाया ॥ ३० ॥

भावार्थः—इस प्रकार पानी और मिट्टी लानेके मार्गको त्याग कर, बीज अथवा वनस्पति के मार्गको त्यागकर सर्व इन्द्रियों में समाधिवान् होकर अर्थात्—सर्व इन्द्रियोंको वशमें करके खड़ा रहना ॥ २६ ॥ उस कुल की उचित भूमिमें खड़े हुये साधुको गृहस्थ से लाये हुये आहार पानी में से अकल्पनीक (सदोष) को ग्रहण करना नहीं परंतु जो निर्दोष कल्पनिक हो तो उसको ग्रहण करना चाहिये ॥ २७ ॥ घरमें से आहार-जल लानेवाली स्त्री जो घरमें आडा अवला तिरछा वांका छींटा डालती हुई अथवा ढोलती हुई लावे तो उसे वहोराने वाली स्त्रीसे साधुको कहना चाहिये कि इस रीतिसे आहार लेना हमको नहीं कल्पता है ॥ २८ ॥ भिक्षा लानेवाली, प्राण (त्रस), बीज तथा हरित आदि को पगसे दबाती हुई आहारादि लावे तो साधु उसको असंयम करनेवाली जानकरके उस आहारका त्याग करे; अर्थात्—उससे कह दे कि साधुको ऐसी भिक्षा नहीं कल्पती है ॥ २९ ॥ दूसरे सचित्त वर्तनमें अचित्त आहार निकाल कर देवे या नहीं देने लायक वर्तन में रही हुई वस्तु सचित्त वस्तुमें डाल कर देवे या सचित्त वस्तुका संघट्टन करके देवे और साधुके लिये पानी को आगा—पीछा हिलाकर जो कोई आहारादि देवे तो साधु उसका त्याग करे

अर्थात्–ऐसे आहार का ग्रहण नहीं करे ॥ ३० ॥

मूल सूत्रं—ओगाहइत्ता चलइत्ता, आहारे पाण–भोअणं । दिंतिअं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३१ ॥ पुरेकम्मेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा । दिंतिअ पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३२ ॥ एवं उदउल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टिआओसे । हरिआले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥ ३३ ॥ गेरुअ-वन्निअ-सेढिअ, सोरट्ठिअ-पिट्ठ-कुक्कुसकए अ । उक्किट्ठमसंसट्ठे, संसट्ठे चेव बोद्धव्वे ॥ ३४ ॥ असंसट्ठेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा । दिज्जमाण न इच्छिज्जा, पच्छाकम्मं जहिं भवे ॥ ३५ ॥

भावार्थ—वर्षा ऋतु में घरके आंगन में भरे हुये सचित्त पानीको उलांघ कर या पानी को बहार निकाल कर, गृहस्थ जल और आहार देवे तो साधुको उस देनेवाले से कहना चाहिये कि इस रीतिसे हमको आहार और जल कल्पता नहीं है ॥ ३१ ॥ साधुको देने के लिये हाथ, तथा कुडछी और बर्तन आदि धोने रूप पूर्व कर्म याने–आहारादि देनेसे पहले दोष लगे वैसा गृहस्थी करे तो देने वाले के प्रति साधुको निषेध करना चाहिये कि यह हमारे कल्पता नहीं है ॥ ३२ ॥ इसी रीतिसे, पानीकी बूँदे गिरती हो ऐसे तथा थोड़े

गीले हाथकरके, सचित्तपृथ्वी (मिट्टी) से भरेहुये हाथकरके, कीचडयुक्त हाथोंसे, क्षार, हड़ताल, हिंगलो, मैनसील, अंजन, लवण, ॥३३॥ गेरू, पीलीमिट्टी, खडी, फिटकडी, पीठा अर्थात्-उसी समय का हुआ पीसा आटा, कुकशा (छिलका), कालिंगडा और तुंबडा आदि सचित्त फल आदिसे हाथ भरेहों ॥ ३४ ॥ अथवा कुडछी और वर्तन अचित्त वस्तुओंसे खरडाये हुये न हो तो उनसे जो गृहस्थ देवे तो लेना नहीं क्योंकि उससे लेनेके पीछेसे (पश्चात् कर्म) आदि के दोष लगतेहैं ॥ ३५ ॥

मूल सूत्रं—संसट्ठेण य हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा । दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥ ३६ ॥ दुण्हं तु भुंजमाणाणं, एगो तत्थ निमंतए । दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, छंदं से पडिलेहए ॥ ३७ ॥ दुण्हं तु भुंजमाणाणं, दो वि तत्थ निमंतए । दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थसणियं भवे ॥ ३८ ॥ गुव्विणीए उवण्णत्थं, विविहं पाणभोअणं । भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए ॥ ३९ ॥ सिआ य समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी । उट्ठिआ वा निसीइज्जा, निसन्ना वा पुणुट्ठए ॥ ४० ॥

भावार्थः—जो आहार पाणी निर्दोषहै और अचित्तसे भरेहुये हाथ, कुडछी या अन्य वर्तनसे देवे तो प्र-

हण करना ॥ ३६ ॥ यदि आहारादि एक वस्तुके दो मालिकहो, जिनमेंसे एकतो निमंत्रणाकरे कि इसवस्तु को ग्रहणकरो तब दूसरे मालिक का नेत्र विकारादि अभिप्राय जानकर उसकी इच्छा नहीं देनेकी मालूमहो तो एक मालिकसे दिया हुआ आहार ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ ३७ ॥ एक वस्तुके दो स्वामीहो और दोनों उसके देनेकी निमंत्रणा करें और जो वहवस्तु निर्दोष हो तो वह ग्रहण करनाचाहिये ॥ ३८ ॥ गर्भ वाली स्त्रीके खानेके निमित्त विविध प्रकारके खानेपीनेके सामान तैयार कियेगये हों तो वो आहार लेना कल्पेनहीं, परन्तु खानेके बाद बचाहो तो ग्रहण करनेयोग्यहै ॥ ३९ ॥ कदाचित् पूरे नौमासवाली गर्भवतीस्त्री साधुको आहारदेनेके वास्ते खडीहो तो बैठे अथवा बैठीहो तो आहार देनेकेलिये उठे तो वह आहार-पानी साधुको कल्पता नहींहै ॥ ४० ॥

मूल सूत्र—तं भवे भत्तपाणं तु, सजयाण अकप्पिअ । दिंतिअ पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥ ४१ ॥ थणग पिज्जमाणी, दारगं वा कुमारिअ । तं निक्खिवित्तु रोअंत, आहारे पाणभोयण ॥ ४२ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४३ ॥ ज भवे भत्तपाणं तु, कप्पाकप्प-

म्मि संकियं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४४ ॥ दगवारेण पिहिअं, नीसाए पीढएण वा । लोढेण वा विलेवेण, सिलेसेण वा केणइ ॥ ४५ ॥

भावार्थः—देनेवालीस्त्रीको निषेधकरना कि हमारे इसरीति से अन्नपानी लेना कल्पेनहीं ॥ ४१ ॥ स्तन पान करता हुआ बालक अथवा बालिकाको रोती छोडकर आहार–पानी वहोरावे तो वह आहार–पानी संयतियों को अकल्पनीय है, देने वालीको निषेध करना कि इस रीतिसे आहार–पानी साधुको नहीं कल्पता है ॥ ४२ ॥ ॥ ४३ ॥ जो आहार–पानी निर्दोषहै या सदोषहै ऐसी मनमें शंकाहो तो देनेवालेको निषेधकरनाचाहिये कि साधुको ऐसा कल्पतानहीं है ॥ ४४ ॥ जो आहार–पानीको सचित्त पानीकेघडे से, घट्टी (चक्की) के पत्थरकी शिलासे, वडेपट्टेसे, वस्तु वांटनेकी शिलासे ढक दिया हो अथवा मिट्टीसे बंधकरके रखाहो और लाखसे बंध कराहो तो ॥ ४५ ॥

मूल सूत्रं—तं च उब्भिंदिआ दिज्जा, समणट्ठाए व दावए । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४६॥ असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा । जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं ॥ ४७ ॥ तारिसं भ-

त्तपाण तु, संजयाणं अकप्पिअ । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४८ ॥ असणं पाणगं वा वि, खा-
फमं साइम तहा । जं जाणिज्जा सुणिज्जा वा, पुण्णट्ठा पगडं इमं ॥ ४९ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाणं अ-
कप्पिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५० ॥

भावार्थः—वैसे आहारको देनेवाला साधुके निमित्त ढक्कन आदिको उठाकर तोडकर उखाडकर देवेतो दे-
नेवालेको निषेध करना कि ऐसा आहार साधुको नहीं कल्पताहै ॥ ४६ ॥ साधुने स्वयं जानलियाहो अथवा
दूसरेसे सुनलियाहो कि यह अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि चारप्रकारका आहार साधुको देनेके नि-
मित्त तैयार किया गयाहै तो वह आहार—पानी साधुको अकल्पनीयहै, इसलिये देनेवालेसे कहना कि साधुको
ऐसा आहार कल्पता नहींहै ॥ ४७—४८ ॥ स्वयं जाने अथवा दूसरेसे सुने कि गृहस्थने यह चार प्रकार-
का आहार पुण्यार्थ देनेको बनायाहै तो यह आहार साधुको कल्पता नहींहै इसलिये उसको नहीं ले और
गृहस्थको निषेधकरे ॥ ४९—५० ॥

मूल सूत्रं—असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा । जं जाणिज्जा सुणिज्जा वा, वणिमट्ठा पगडं इमं

॥ ५१ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५२ ॥ असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा । जं जाणिज्जा सुणिज्जा वा, समणट्ठा पगडं इमं ॥ ५३ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५४ ॥ उद्देसियं कीयगडं, पूइकम्मं च आहडं । । अज्झोअर-पामिच्चं, मीसजायं विवज्जए ॥ ५५ ॥

भावार्थः—गृहस्थोंने चार प्रकार का आहार भिक्षुकों को देनेके लिये बनवाया है ऐसा स्वयं जाने या सुने तो वह आहार अकल्पनीक जानकर देनेवाले से निषेध करे कि इस निमित्त से बनवाया हुआ आहार साधुको नहीं कल्पता है ॥ ५१-५२ ॥ जानने से या सुननेसे मालूम पड़े कि गृहस्थी ने यह चार प्रकार का आहार साधुके निमित्त बनवाया है तो वह आहारादि साधुको अल्पनीक होनेसे देनेवालेको मना करना कि इस प्रकार का आहार साधुको कल्पता नहीं है ॥ ५३-५४ ॥ साधुको देनेके लिये बनाया हुआ, बाजारसे खरीदकर लायाहुआ, शुद्धआहारमें दूपित आहार मिलायाहुआ, सामने लायाहुआ, साधु आयेहुए जान कर मूल आहारमें वृद्धि किया हुआ, अपने खराब आहार के कारण से साधुको बहोराने के लिये दूसरेसे अच्छा

आहार बदलाकर लाया हुआ अथवा उंछीना उधार लाया हुआ तथा अपने और साधुके निमित्त शामिल ब-नाया हुआ आहार को नहीं लेना, यानी–सर्वथा त्याग करना चाहिये ॥ ५५॥

मूल सूत्र—उग्गम से अ पुच्छिज्जा, कस्सट्ठा केण वा कडं। सुच्चा निस्संकिय सुद्धं,, पडिगाहिज्ज सजए ॥ ५६ ॥ असणं पाणग वा वि, खाइमं साइम तहा। पुप्फेसु हुज्ज उम्मीस, बीएसु हरिएसु वा ॥ ५७ ॥ त भवे भत्तपाण तु, संजयाण अकप्पिअं। दितिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५८ ॥ असणं पाणगं वा वि, खाइम साइम तहा। उदगम्मि हुज्ज निक्खित्त, उत्तिंगपणगेसु वा ॥ ५९ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअ। दितिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६० ॥

भावार्थ.—जो आहार वहोर ते समय (यह दोष वाला है) ऐसी शंका पड़ जाय तो आहारके देनेवाले से आहार की उत्पत्ति पूछना चाहिये कि यह किसके लिये तथा किसने बनाया है ऐसा पूछने के बादमें शका र-हित (यह निर्दोष मालूम हो तो) आहार ग्रहण करे ॥ ५६ ॥ जो चारों प्रकार का आहार, पुष्प, बीज, हरित (वनस्पति) से मिला हुआ होवे तो वह आहार–पानी साधुओं को अकल्पनीय होने से देनेवाले को मना कर-

ना कि ऐसा आहार साधुको कल्पे नहीं ॥ ५७-५८ ॥ जो चार प्रकार का आहार सचित्त पानीपर या कीड़ी के विल पर या लीलण फुलनपर रक्खा हो तो यह साधुको अकल्पनीय होने से देनेवाले को निषेध करना चाहिये कि ऐसा आहार-पानी साधुको नहीं कल्पता है ॥ ५९-६० ॥

मूल सूत्रं—असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा। तेउम्मि (अगणिम्मि) होज्ज निक्खित्तं, तं च संघाट्टिआ दए ॥ ६१ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं। दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६२ ॥ एवं उस्सिक्किया ओसक्किया, उज्जालिआ पज्जालिआ निव्वाविया। उस्सिंचिंया निस्सिंचिया, उववत्तिया (उव्वत्तिया) ओयारिया दए ॥ ६३ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं। दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६४ ॥ हुज्ज कट्ठं सिलं वा वि, इट्टालं वा वि एगया। ठविअं संकमट्ठाय, तं च हुज्ज चलाचलं ॥ ६५ ॥

भावार्थः—पूर्वोक्त चार प्रकार का आहार अग्नि पर रक्खा हो और देनेवाला अग्नि का संघट्टन करके देवे तो वह आहार साधुको अकल्पनीय होनेसे उसका निषेध करना चाहिये ॥ ६१-६२ ॥ इस प्रकार अग्नि

बुझ जानेके भयसे चूल्हे में लकडीयां डालकर या अधिक जल जानेके भयसे जले हुये लकड़े बाहर निकाल कर, थोड़ी या अधिक लकड़ियां डालकर, अन्नादि जल जानेके भयसे अग्नि बुझाकर (शांत करके), भभक जाने (तूफान आजाने) के भय से थोडासा अन्न निकाल कर अथवा जल आदिके छींटे देकर, अग्निके उपर का अन्नादि अन्य पात्र में निकाल कर या नीचे उतार कर, जो दान देनेवाला देवे तो ऐसा आहार साधुको अकल्पनीक होनेसे देनेवाले को मना करना कि ऐसा आहार साधुको नहीं कल्पताहै ॥ ६३ ॥ ॥ ६४ ॥ वर्षाऋतुमें पानी भरजानेसे चलनेके लिये जो लकडी, पत्थरकी शिला, अथवा ईंट या ईंटके टुकडे स्थापन किये हों और वह हिलते हों (डग २ करते हों) स्थिर नहीं हो तो उस रास्तेपर संयमवान् साधुको नहीं जाना चाहिये ॥ ६५ ॥

मूल सूत्रं—न तेण भिक्खू गच्छिज्जा, दिट्ठो तत्थ अंसजमो । गंभीर झुसिरं चेव, सिव्विदिअसमाहिए ॥ ६६ ॥ निस्सेणिं फलग पीढ, उस्सवित्ता णमारुहे । मंच कीलं च पासाय, समणट्ठा एव दावए ॥ ६७॥ दुरुहमाणी पवडिज्जा, (पडिवज्जा) हत्थं पायं व लूसए । पुढवीजीवे वि हिंसेज्जा, जे अ तन्निस्सिआ

जगे ॥ ६८ ॥ एआरिसे महादोसे, जाणिऊण महेसिणो । तम्हा मालोहडं भिक्खं, न पडिगिण्हंति संजया ॥ ६९ ॥ कंदं मूलं पलंबं वा, आमं छिन्नं च संन्निरं । तुंबागं सिंगवेरं च, आमगं परिवज्जए ॥ ७० ॥

भावार्थः—उसरास्तेसे चलनेसे चारित्रकी विराधना होती है ऐसा ज्ञानी ने देखा है तथा अप्रकाशमें रखे हुये और अंदरसे पोले ऐसे लकडे पर जितेंद्रिय समाधिवंत साधुको चलनानहीं चाहिये ॥६६॥ साधुको दान देनेके लिये देनेवाली माले पर चढने के लिये नसेनी (सिड्डी), पट्टिया, चौकी, खाट और खीले प्रमुख उँचे किये हो और जो उन परसे चढे तो कदाचित् चढते हुये गिरजाय और उससे हाथ-पैर टूटजाय तथा वहां जो पृथ्वीकाय के जीव हों और जो पृथ्वीको आश्रय बनाकर अन्य जीव रहे हो उनकी भी विराधना होती है इसलिये महापुरुषों ने ऐसे २, बड़े २ दोषों को जानकर ऐसे अस्थिर माले परसे उतारी हुई भिक्षाका ग्रहण करना मना किया है ॥ ६७–६८–६९ ॥ सूरणादि कंद, विदारिकादि मूल, ताल आदि फल, कच्चा छिदा हुआ ऐसा पत्तोंका शाक तुंबड़ा और आदु (अदरक) यह सर्व कच्चा सचित्त साधुको नहीं लेना चाहिये ॥ ७० ॥

मूल सूत्रं—तहेव सत्तुचुण्णाइं, कोलचुन्नाइं आवणे। सक्कुलिं फाणिअं पूअं, अन्न वा वि तहाविह ॥७१॥ विक्कायमाण पसढं, रएण परिफासिअ। दिंतिअ पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७२ ॥ बहुअट्ठिअ पुग्गलं, अणिमिसं वा बहुकंटय। अत्थिय तिंदुयं बिल्लं, उच्छुखंड व सिंबलिं ॥ ७३ ॥ अप्पे सिआ भोअण जाए, बहुउज्झिय धम्मिए (यं)। दिंतिअं पडिआइक्खे, नमेकप्पइ तारिस ॥ ७४ ॥

भावार्थ.—फिर सथवा का चूर्ण (सतू), बोर का चूर्ण, तल सांकली, (तिलोंकी पापडी), नरमगुड़, गुडकी पुडी, पुडला, लड्डू, जलेबी तथा दूसरी उसी प्रकारकी मिठाई आदि दुकानमें बिकती हो, बहुत दिनोंकी रक्खी हो तथा सचित्त रजसे लिप्त हो, ऐसी चीजें देनेवाली को मना करना कि मुझे ऐसा आहार कल्पता नहीं है ॥ ७१–७२ ॥ जिसमें बहुत गुठलिया हो ऐसे सीताफल प्रमुख फल, अनिमेषक नामक फल, बहुत कांटेवाले फल, अस्थिक फल, तिंदुक फल, बीलाका फल, शेलडी के टुकड़े और शाल्मली के फल, कि जिनमें से थोडा खाने में आवे और बहुत फेंकने में आवे, ऐसी वस्तु देनेवाली को निषेध करना कि इस प्रकार का साधुको नहीं कल्पता है ॥ ७३–७४ ॥

मूल सूत्रं—तहवुच्चावयं पाणं, अदुवा वारधोअणं । संसेइमं चाउलोदगं, अहुणाधोअं विवज्जए ॥ ७५ ॥

भावार्थः—आहार की विधि कही अव पानी की विधि कहते हैं–जिस तरह अन्न उसी तरह जल भी उँचा; वर्णादिसें तथा सुगन्ध मय द्राक्षादि का जल, नीचा; वर्णादिसे हीन, सुगंधि रहित, परनालादिक का जल, तथा गुड़ के घड़े का धोवन, उत्सर्ग तथा अपवाद में साधुको ग्रहण करना चाहिये, परंतु तत्काल का धोवन जव तक अचित्त नहीं हुआ हो तव तक चाँवल आदि का जल लेना नहीं ॥ ७५ ॥

मूल सूत्रं—जं जाणेज्ज चिराधोअं, मईए दंसणेण वा । पडिपुच्छिऊण सुच्चा वा, जं च निस्संकियं भवे ॥७६॥ अजीवं पडिणयं नच्चा, पडिग्गाहिज्ज संजए । अह संकियं भविज्जा, आसाइत्ताण रोअए ॥ ७७ ॥ थोवमासायणट्ठाए, हत्थगम्मि दलाहि मे । मा मे अच्चंबिलं पूअं, नालं तिण्हं विणित्तए ॥ ७८ ॥ तं च अच्चंबिलं पूअं, नालं तिण्हं विणित्तए । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७९ ॥ तं च हुज्जा अकामेणं, विमणेणं पडिच्छिअं । तं अप्पणा न पिवे, नो वि अन्नस्स दावए ॥ ८० ॥

भावार्थः—जो चांवल आदिका धोवन वुद्धिसे, देखनेसे और पूछनेसे शंका रहित होजाय कि यह वहुत

देरका है तो वह ग्रहण करने योग्य है ॥ ७६ ॥ गरमजल अचित्त कियाहुआ जानकर साधुको लेना चाहिये, यदि जलमें शकाहो तो उसको चखकर निर्णयकरके लेना चाहिये ॥७७॥ पानी देनेवालीको कहना चाहिये कि मुझे चखनेके लिये थोडासा जलहाथमें दे दो क्योंकि यदि खट्टा या बिगडा हुआ हो तो मेरीतृपा दूरकरनेके लिये समर्थ नहीं होगा उसे लेनेका मुझे कुछ प्रयोजन नहींहे ॥७८॥ जो खट्टा या बिगडाहुआ जल तृपा दूर करनके काममें नहींलगे वैसा जल देने वालीको निषेध करना कि मुझे उसजलकी खप (इच्छा) नहींहे ॥ ७९ ॥ कदाचित् गृहस्थके आग्रहसे या भूलसे अन्यचित्तसे वैसा जल ले लियाहो तो ऐसा जल स्वय पीनानहीं दूसरे को भी पिलानानहीं चाहिये ॥ ८० ॥

मूल सूत्रं—एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिआ । जय परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ ८१ ॥ सिया अ गोअरग्गगओ, इच्छिज्जा परिभुत्तुअं । कुट्ठगं भित्तिमूलं वा, पडिलेहित्ताण फासुअं ॥ ८२ ॥ अणुन्नविंतु मेहावी, पडिच्छिन्नम्मि संवुडे । हत्थगं संपमज्जित्ता, तत्थ भुंजिज संजए ॥ ८३ ॥ तत्थ से भुंजमाणस्स अट्ठिअं कटओ सिआ । तणकट्ठसक्करं वावि, अन्न वावि तहाविह ॥ ८४ ॥ त उक्खिविंतु न निक्खिवे, आसएण न छड्डए ।

हत्थेण तं गहेऊण, एगंतमवक्कमे ॥ ८५ ॥

भावार्थः—परन्तु उस पानीको लेकर एकांत स्थानमें जाकर अचित्त भूमिमें चक्षुसे और रजोहरणसे प्रतिलेखनकर यत्नापूर्वक परठे; ढोलदेवे, ढोलनेकेवाद उपाश्रयमें आकर इरियावहीकरे ॥ ८१ ॥ गौचरीको गयाहुआ वृद्ध अथवा वाल साधु आदि, कदाचित् तृपासे कष्टपाकर आहार करनेकी इच्छाकरे तो वहां सूनाघर, मठआदि, भींतका एकभाग वीज रहित हो तो पडिलेहन करके गृहादिकके स्वामीकी आज्ञालेकर ढकेहुये स्थानमें उपयोग पूर्वक इरियावही प्रतिक्रमण पूर्वक मुंहपत्तिसे मुंह हाथ आदिका प्रमार्जन करके, राग–द्वेपसे रहित होकर आहार करे ॥ ८२–८३ ॥ वहां आहार-पानी करते हुये कदाचित् गृहस्थके प्रमादसे गुठली, कांटा, तिनका (तुच्छ), काष्ट का टुकडा, कंकर और उसी प्रकारकी अन्य वस्तु कोई आजावे तो उसको हाथसे फैकना नहीं, मुहं से थूंकना नहीं परन्तु उसको हाथमें लेकर एकांत में जावे ॥ ८४–८५ ॥

मूल सूत्रं—एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिआ । जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ ८६ ॥ सिआ अ भिक्खू इच्छिज्जा, सिज्जमागम्म भुतुअं । सपिंडपायमागम्म, उंडुअं पडिलेहिआ ॥ ८७ ॥ विणएणं पविसित्ता,

सगासे गुरुणो मुणी । इरियावहियमायाय, आगओ अ पडिक्कमे ॥ ८८ ॥ आभोइत्ताण नीसेसं, अईआर च जहक्कमं । गमणागमणे चेव, भत्ते पाणे व संजए ॥ ८९ ॥ उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो, अवक्खित्तेण चेअसा । आलोए गुरुसगासे, ज जहा गहिअ भवे ॥ ९० ॥

भावार्थ.—एकांतमें जाकर अचित्त, अर्थात्–विना जीव की भूमि प्रतिलेखनकर (तपास कर) उस वस्तु को वहा परठवना (डालदेना), परठवनेके बाद इरियावही प्रतिक्रमण करे ॥ ८६ ॥ कदाचित् उपाश्रय के बाहर आहार करनेके कारणके अभाव से साधु वस्ति (उपाश्रय) में आनेके बाद आहार करने की इच्छा करे तो उसको उपाश्रयमें आनेके बाद आहार करनेके स्थानका पडिलेखन करना ॥ ८७ ॥ "नमः क्षमाश्रमणे भ्यः" इस तरहसे बोलनेरूप विनय पूर्वक उपाश्रय में प्रवेश करके गुरुके पासमें आकर, इरियावही प्रतिक्रमण करे गुरुके पास काउस्सग करे ॥ ८९ ॥ काउस्सग में गौचरी जाने आनेमें तथा आहार–पानी लेनेमें अनुक्रमसे जो २ अतिचार लगे हों वह सब याद करे ॥ ८९ ॥ याद करके सरल, बुद्धिमान, उद्वेग रहित और व्याक्षिप्त चित्त (चपलता) रहित शुद्ध मन करके जिस प्रकार से जिस २ अनुक्रम से आहार–पानी लिया हो

उस प्रकारसे गुरुके सन्मुख आलोवे, सब कहकर बतावे ॥ ९० ॥

मूल सूत्रं—न सम्ममालोइअं हुज्जा, पुव्विं पच्छा व जं कडं । पुणो पडिक्कमे तस्स, वोसट्ठो चिंतए इमं ॥ ९१ ॥ अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिआ । मुक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥ ९२ ॥ णमुक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसंथवं । सज्झायं पट्ठवित्ताणं, वीसमेज्ज खणं मुणी ॥ ९३ ॥ वीसमंतो इमं चिंते, हियमट्ठं लाभमस्सिओ । जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हुज्जामि तारिओ ॥ ९४ ॥ साहवो तो चिअत्तेणं, निमंतिज्ज जहक्कमं । जइ तत्थ केइ इच्छिज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥ ९५ ॥

भावार्थः—और बिना उपयोग से पूर्व कर्म, तथा पश्चात् कर्मादि जो दोष लगे हों उनकी उस समय कदाचित् सम्यक् प्रकार से आलोयणा नहीं हुई हो तो फिर "पडिक्कमामि गोयर चरियाए" इत्यादि "पगाम सज्झाय" के पाठसे आलोवे और काउस्सग करके इस प्रकार विचार करे कि ॥ ९१ ॥ मोक्ष साधन के हेतु भूत साधुके शरीर की आजीविका के लिये अहो ? जिनराज तीर्थंकर भगवन् ने किस प्रकार की निर्दोष वृत्ति बताई है ॥ ९२ ॥ इस प्रकार चिंतवन करने के बाद "नमो अरिहंताणं" कह करके काउस्सग पारके ऊपर चतु

विंशति स्तवन अर्थात्—लोगस्स कहके सज्झाय पूर्ण करके थोडी देर साधुको विश्राम लेना चाहिये ॥ ९३ ॥ कर्मकी निर्जराका इच्छुक विश्राम लेता हुआ साधु अपने हितके लिये इस प्रकार विचारता है कि जो यह लाया हुआ निर्दोष आहार अन्य साधु थोडा सा भी लेनेरूप मेरेपर अनुग्रह करें तो में भव सागरसे तैर कर पार होजाऊँ अर्थात्—भव सागर तिरने में यह अनुग्रह मुझे सहायक होगा ॥ ९४ ॥ पीछे गुरुकी आज्ञा लेनेके बाद प्रेम पूर्वक क्रमसे (दीक्षा पर्याय के नियम प्रमाणे) सब साधुओं को निमन्त्रणा करे जो कोई उस आहारमें से लेनेकी इच्छाकरें तो उनको वह देनेके बाद उनके साथ पासमें बैठकर भोजन करे ॥ ९५ ॥

मूल सूत्र—अह कोइ न इच्छिज्जा, तओ भुजिज्ज एक्कओ । आलोए भायणे साहू, जयं अपरिसाडिअं ॥ ९६ तित्तगं च कडुअं च, कसायं अविल च महुरं लवणं वा । एयलद्धमन्नत्थ पउत्तं, महु-घयं व भुजिज्ज सजए ॥ ९७ ॥ अरसं विरसं वावि, सूइअं वा असूइअं । उल्लं वा जइ वा सुक्कं, मंथु-कुम्मास-भोअणं ॥९८॥ उप्पण्णं नाइहीलिज्जा, अप्पं वा बहु फासुअं । मुहालद्धं मुहाजीवी, भुजिज्जा दोसवज्जिअं ॥ ९९ ॥ दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा । मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सुग्गइं ॥ त्ति बेमि ॥ १०० ॥

॥ इअ पिंडेसणाए पढमो उद्देसो समत्तो ॥ ५ ॥ १ ॥

भावार्थः—यदि जो कोई साधु उसमें से आहार न ले तो फिर प्रकाशवाले पात्रमें (चौडे मुंहवाले पात्रमें) यत्नापूर्वक हाथ तथा मुखसे नीचे नहीं गिरे उस रीतिसे स्वयं अकेलाही आहार करे ॥ ९६ ॥ वह आहार तीखा, कड़वा, कषायला, खट्टा, मीठा और खाराहो तोभी यह आहार देहकी उपजीविकाके लिये मुझे मिला है, इसप्रकार जानकर राग–द्वेपसे रहित जो पदार्थ ग्रहस्थने अपने लिये कियेहो और जो साधुको प्राप्त हुए हो वह उत्तमघृतके समान स्वादिष्ट मानकर भोजन करले ॥ ९७ ॥ वह आहार हिंग आदिके संस्कारसे रहित हो या विरस पुराने चांवल आदि हों, शाकादि सहित हो अथवा रहित हो, अधिक व्यजंन हो या थोडा हो, बोरका चूर्णहो, या उडदके वाकले हो, परिपूर्ण आहार नहीं मिला हो अथवा मिला हो, वह असार हो, परन्तु सिद्धांतकी विधिसे मिले हुये निर्दोष आहार की निंदा नहीं करना चाहिये। क्योंकि तंत्र-मंत्रादि विना मिला-हुआ है तथा साधु स्वयं मुधाजीवी है (जात्यादि दिखाये विना अथवा निदान किये विना जीवन निर्वाह करने वाला है) इसलिये संयोजनादि दोष लगाये विना वह निर्दोष आहार साधुको कर लेना चाहिये ॥ ९८

—९९ ॥ कोई उपकार करे विना फोगट (व्यर्थ) में आहार देने वाले दुर्लभ हैं, फिर मंत्र—तंत्रादि चमत्कार दिखाये विना, केवल धर्म परायण रहकर आहार लेनेवाले भी दुर्लभ हैं, ऐसे मुधादाई (धर्म बुद्धि से देनेवाले) श्रावक, तथा मुधाजीवी (धर्म बुद्धिसे निर्दोष लेने वाले) साधु, यह दोनों सुगति में जाते हैं ॥ १०० ॥

॥ इति श्री पिंडेषणा नामक पचम अध्ययन का यह प्रथम उद्देशक समाप्त ॥ ५ ॥ १ ॥

मूल सूत्रं—पडिग्गहं संलिहित्ताण, लेवमायाए संजए । दुगधं वा सुगंध वा, सव्वं भुंजे न छड्डए ॥ १ ॥ सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो अ गोअरे । अयावयट्ठा भुच्चा णं, जइ तेणं न संथरे ॥ २ ॥ तओ कारणमुप्पण्णे, भत्तपाणं गवेसए । विहिणा पुव्वउत्तेणं, इमेण उत्तरेण य ॥ ३ ॥ कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे । अकाल च विवज्जित्ता (ज), काले कालं समायरे ॥ ४ ॥ अकाले चरिसि भिक्खू, कालं न पडिलेहिसि अप्पाणं च किलामेसि, सन्निवेसं च गरिहसि ॥ ५ ॥

भावार्थः—पिछले पिंडेषणा उद्देशकमें आहार संबंधी नियम कहते हुए जो कुछ बाकी रहे वह इस उद्देशकमें कहतेहैं—साधुको आहार करतेहुए चाहे वह आहार सुगध वालाहो अथवा दुर्गंध वालाहो तोभी उसका त्याग

नहीं करना चाहिये किंतु वह पात्रलेप पर्यंत; अर्थात्—पात्र बिलकुल साफहो जाय उसप्रकार वह सर्व आहार खाना चाहिये ॥ १ ॥उपाश्रयमें अथवा स्वाध्याय भूमिमें रहेहुए अथवा गौचरी गयेहुए साधुने जो संपूर्ण आहार नहीं किया हो और जो उससे निर्वाह नहीं होता हो तो ॥ २ ॥ पूर्वोक्तविधि और आगे वतलानेमें आवेगी, उस विधिसे कारण उत्पन्न होनेपर दूसरी बार आहारकी गवेषणा करनी चाहिये ॥ ३ ॥ यहांपर द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावसे विधि वतलाते हैंः— प्रथम काल यत्ना—जिसगांवमें जिस अवसर पर आहारका समय हो उस समय साधुको गौचरी जाना चाहिये और स्वाध्याय करनेके समय पीछा फिरना चाहिये, अकालको छोड़कर जो कार्य करनेका अवसरहो उस अवसर पर कार्य करना चाहिये ॥ ४ ॥ अकालमें गौचरी गयेहुए साधुको आहार न मिलनेसे गांवकी निंदा करनेपर उससे दूसरा साधु कहताहै कि हे साधु गौचरीके समयको नहीं देखता है, अकाल समयमें गौचरी जाताहै, इससे आत्माको—व्यर्थ घूमनेसे थकावट उत्पन्न करताहै और गांवकी भी निंदा करताहै ॥ ५ ॥

मूल सूत्रं—सइ काले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारिअं । अलाभो त्ति न सोइज्जा, तवो त्ति अहियासए

॥ ६ ॥ तहेवुच्चावया पाणा, भत्तट्ठाए समागया । तं उज्जुअं न गच्छिज्जा, जयमेव परक्कमे ॥ ७ ॥ गोअरग्गपविट्ठो अ, न निसीइज्ज कत्थई । कहं च न पबंधिज्जा, चिट्ठित्ताण व संजए ॥ ८ ॥ अग्गलं फलिहं दारं, कवाडं वा वि संजए । अवलंबिआ न चिट्ठिज्जा, गोअरग्गगओ मुणी ॥ ९ ॥ समणं माहणं वावि, किविणं वा वणीमगं । उवसंकमंत भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥ १० ॥ तमइक्कमित्तु न पविसे, नवि चिट्ठे चक्खुगोअरे एगतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठिज्ज संजए ॥ ११ ॥ वणिमगस्स वा तस्स, दायगस्सुभयस्स वा । अप्पत्तिअं सिआ हुज्जा, लहुत्तं पवयणस्स वा ॥ १२ ॥

भावार्थः—जब इस प्रकारके दोषहैं तब अकालमें गौचरी नहीं जाकरें, गौचरीके समयमें गौचरी जाना चाहिये और अपने पराक्रमको फैलाना परन्तु आहार नहीं मिलने पर शोक नहीं करना चाहिये, आज मुझे तपस्या हुई ऐसा विचारकर क्षुधा सहन करना चाहिये ॥६॥ दूसरी क्षेत्रकी यत्ना कहतेहैं.— साधुको गौचरी जातेहुए मार्ग में घाले प्रमुख खानेके घास्ते हस, कौवे, प्रमुख प्राणी इकट्ठे हो रहे हों तो उनके सन्मुख नहीं जातेहुए उनको त्रास न हो इस प्रकार यत्नापूर्वक चलना चाहिये ॥ ७ ॥ गौचरी गयेहुए साधुको कोई स्थानपर बे-

ठना नहीं चाहिये, वहां बेठकर धर्म कथाभी नहीं करनी चाहिये, ऐसा करनेसे अशुद्ध आहार तथा शंकासे द्वेषादि दोषोंका प्रसंग होताहे ॥ ८ ॥ तीसरी द्रव्य यत्ना कहते हैं:— गौचरी गयेहुए साधुको भूँगल (अरगला) बारसोत, परिध और किंवाडका अवलंबन करके खडा नहीं रहना चाहिये, ऐसा करनेसे लघुता तथा कुच्छ-गिरनेसे विराधना होना संभव हे ॥ ९ ॥ चौथी भाव यत्ना कहते हैं:— श्रमण, ब्राह्मण, कृपण और दरिद्र इन चारों मंसे कोई भी अन्न—जल के वास्ते समीप जाता आता हो तो साधु उन श्रमणादिको उलांग कर गृहस्थके घरमें नहीं प्रवेश करे और उनके दृष्टिगोचर हो वहांपर खडाभी नहीं रहे, किंतु एकांत स्थानमें जाकर खड़ा रहना चाहिये, ऐसा करने का कारण यह है कि उन दरिद्रिको तथा देनेवाले को कदाचित् दोनोंको अप्रीति हो जाय और प्रवचनकी लघुता होजाय ॥ १०—११—१२ ॥

मूल सूत्र—पडिसेहिए व दिन्ने वा, तओ तम्मि नियत्तिए । उवसंकमिज्ज भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥ १३ ॥ उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं । अन्नं वा पुप्फसच्चित्तं, तंच संलुंचिआ दए ॥ १४ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १५ ॥

भावार्थः—साधुके पहले जो श्रमणादि गृहस्थके घर पर खडे रहे हो उनको गृहस्थ निषेधकरे अथवा कुछदेवे तो उनके चले जानेके बाद साधुको आहर–पानीके लिये गृहस्थके घरमें जाना चाहिये ॥ १३ ॥ उत्पल, पद्म, कुमद, मेहदी, अथवा मालती और अन्य सचित्त पुष्पोंको छेद्कर जो देनेवाली आहार–पानी देवे तो वह भात–पानी साधुको अकल्पनीक है, देनेवालीको निषेध करना कि ऐसा आहार–पानी हमको नहीं कल्पताहै ॥ १४–१५ ॥

मूल सूत्रं—उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं । अन्नं वा पुप्फसच्चित्तं, तं च सम्मद्दिआ दए ॥ १६ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १७ ॥ सालुअं वा विरालिअं, कुमुअ उप्पलनालिय । मुणालिअं सासवनालिअं, उच्छुखंड अनिव्वुडं ॥ १८ ॥ तरुणग वा पवालं, रुक्खस्स तणगस्स वा । अन्नस्स वा वि हरिअस्स, आमग परिवज्जए ॥ १९ ॥ तरुणिअं वा छिवाडिं, आमिअं भज्जिअ सइं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ २० ॥

भावार्थः— उत्पल, पद्म, कुमुद मेहंदी, मालती या अन्य सचित्त पुष्पोंका मर्दन करके जो दातार

आहारादि देवें तो वह सांधुको अकल्पनीक होनेसे नहीं लेनेके लिये निषेध करना चाहिये ॥ १६–१७ ॥ शास्त्रसे नहीं परिणमे हुये (सचित्त) उत्पलकंद, पलाशकंद, कुमुदनाल, उत्पलनाल, पद्मकाकंद, सरसवकी दांडी, इखुके टुकडे, वृक्ष, तिनके (तुच्छ) और हरितादिके सचित्त तरुणअंकुर (कोमलपत्ती) को साधु लेवे नहीं ॥ १८–१९ ॥ जिनके अंदर दाना नहीं बंधा हो ऐसी कच्ची मुंगफलीयाँ प्रमुख तथा एकबार भुंजीहुई मिश्र जो देने वाली देवे तो साधु मनाकरे कि मुझे ऐसा नहीं कल्पताहै ॥ २० ॥

मूल सूत्रं—तहा कोलमणुस्सिन्नं, वेलुअं कासवनालिअं । तिलपप्पडगं नीमं, आमगं परिवज्जए ॥ २१ ॥ तहेव चाउलं पिट्ठं, विअडं वा तत्तऽनिव्वुडं । तिलपिट्ठपूइपिनागं, आमगं परिवज्जए ॥ २२ ॥ कविट्ठं माउलिंगं च, मूलगं मूलगत्तिअं । आमं असत्थपरिणयं, मणसा वि न पत्थए ॥ २३ ॥ तहेव फलमंथूणि-बीअमंथूणि जाणिआ । विहेलगं पियालं च, आमगं परिवज्जए ॥ २४ ॥ समुआणं चरे भिक्खू, कुलमुच्चावयं सया । नीयं कुलमइक्कम्म, ऊसढं नाभिधारए ॥ २५ ॥

भावार्थः—वैसेही बोर, बांस करेला, श्री पर्णीफल, तिल पापड़ी और निंबोली बिना पकाये तथा बिना

अन्य शस्त्रों से परिणमित्त (अचित्त) नहीं हुए हो तो लेना नहीं चाहिये ॥ २१ ॥ फिर चांवल का धोवन, कच्चा जल, तीन उबाला आये विनाका जल, तीलका चूरा (तिलका लोट) और सरसोंका खोल यह पांचों कच्चे या मिश्र हों तो साधुको नहींलेना चाहिये ॥२२॥ शस्त्रसे परिणम्ये विना कच्चे कोठके फल, बिजोरे के फल, मूलेके पत्ते ओर मूला यहसर्व साधुको लेनेका मनसेभी नहीं इच्छना चाहिये, फिर बोरड़ीके फलकाचूर्ण, जवादिका चूर्ण, बेहडा का फल, ओर रायणके कच्चेफल अन्यशस्त्रसे अचित्तपणे परिणम्ये विना लेना नहीं चाहिये ॥ २३—२४ ॥ शुद्धभिक्षाकेलिये साधुको धनाढ्यके या निर्धनके जो निंदनीय न हो उसके घर जाना योग्यहे, परतु मार्गमें आतेहुए निर्धनके घर छोडकर धनवान्के घर जानानहीं चाहिये ॥ २५ ॥

मूलसूत्र—अदीणो वित्तिमेसिज्जा, न विसीइज्ज पंडिए । अमुच्छिओ भोअणम्मि, मायण्णे एसणारए ॥ २६ ॥ बहुं परघरे अत्थि, विविहं खाइमसाइमं । न तत्थ पंडिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा ॥ २७॥ सयणासणवत्थं वा, भत्तं पाण व संजए। अदिंतस्स न कुप्पिज्जा, पच्चक्खे वि अ दीसओ ॥ २८ ॥ इत्थिअं पुरिसं वावि, डहरं वा महल्लगं। वंदमाणं न जाइज्जा, नो अ णं फरुसं वए ॥ २९ ॥ जे न वंदे न से कुप्पे,

वंदिओ न समुक्कसे। एवमन्नेसमाणस्स, सामण्णमणुचिट्ठइ ॥ ३० ॥

भावार्थः— अच्छे आहारमें मोहित नहींहोतेहुए, अपने आहारके परिणामको जाननेवाले, ऐषणामें रक्त ऐसे पंडित साधु को आहार पानी नहीं मिलनेपर विखवाद (खेद) नहींकरना किन्तु दीनता रहित वृतिसे शुद्धआहारकी गवेषणा (खोज) करनी ॥ २६ ॥ गृहस्थके घरमें नाना प्रकारका खादिम—स्वादिम बहुत होताहै, परन्तु वह नहीं दे तो पंडित पुरुषको उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये, क्योंकि यदि गृहस्थकी इच्छा देनेकीहो तो दे अथवा नहीं ॥ २७ ॥ गृहस्थके गृहमें प्रत्यक्ष दीखतेहुए शयन, वस्त्र, आसन, अन्न, और जल गृहस्थ नहीं दे तो उसपर क्रोध नहींकरना चाहिये ॥ २८ ॥ स्त्री या पुरुष, बालक या वृद्ध वंदना करने को आने वालेके पास में याचना नहींकरनी चाहिये, ऐसा करनेसे उनका भाव टूटजाताहै, यदि शुद्ध आहारके अभावसे नहीं देतो उसको कठोर वचन भी नहीं कहना चाहिये (जैसे कि आहार जल तो देतानहींहै इसलिये तेरी वंदना करना व्यर्थहै.) ॥ २९ ॥ जो गृहस्थ वंदना नहींकरे तो भी उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये और जो राजा प्रमुख वंदना करें तो गर्व करना नहीं चाहिये, इस प्रकार यह दो तरहकी भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेवाला

अखंडित चारित्र पालन कर सकता है ॥ ३० ॥

मूल सूत्र—सिआ एगइओ लद्धुं, लोभेण विणिगूहइ । मामेयं दाइयं संतं, दट्ठूणं सयमायए ॥ ३१ ॥ अत्तट्ठा गुरुओ लुद्धो, बहुं पावं पकुव्वइ । दुत्तोसओ अ से (सो) होई, निव्वाणं च न गच्छइ ॥ ३२ ॥ सिआ एगइओ लद्धुं, विविहं पाणभोअणं । भद्दगं भद्दगं भुच्चा, विवन्नं विरसमाहरे ॥ ३३ ॥ जाणंतु ता इमे समणा, आययट्ठी अयं मुणी । संतुट्ठो सेवए पंतं, लूहवित्ती सुतोसओ ॥ ३४ ॥ पूयणट्ठा जसोकामी, माणसम्माणकामए । बहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वइ ॥ ३५ ॥

भावार्थ—साधुको समुदायकी चोरी नहींकरना चाहिये वह दिखातेहैं—कदाचित् कोई अकेला साधु सरस गौचरी लाकरलोभके वशसे नीरस आहार, उसके उपर रखकर उसे छिपावे, कारण यह कि जो यह सरस आहार आचार्यादिको बतलाऊँगा तो वह देखकर स्वयं लेवेंगे ॥ ३१ ॥ अपने स्वार्थको प्रधान मानने वाला ऐसा लोभी साधु बहुत पापोंका उपार्जन करताहै, और इसभवमें ऐसे वैसे आहारसे संतोषित नहींहोताहै, इस कारण वह मोक्ष गति को भी नहीं पाताहै ॥ ३२ ॥ कदाचित् कोई साधु एकेला गौचरीमें नाना प्रकारके सरस

आहार लेकर वहांही अच्छा २ आहार खाकर विना रस वाला दूसरा आहार उपाश्रयमें लावे ॥ ३३ ॥ तो अन्य साधु ऐसा समझेंगे कि यहसाधु आत्मार्थी, संतोषवाला अंत प्रान्त आहार खानेवाला, लूखी वृतिवाला और थोडे से संतोपित होसके ऐसाहै ॥ ३४ ॥ परन्तु यह साधु पूजाका अर्थी, यशका इच्छुक और मान सन्मान केलिये मायाशल्य करताहै, इससे वह वहुत पाप उपार्जन करताहै ॥ ३५ ॥

मूल सूत्रं—सुरं वा मेरगं वावि, अन्नं वा मज्जगं रसं । ससक्खं न पिवे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो ॥ ३६ ॥ पियए एगओ तेणो, न मे कोइ विआणइ । तस्स पस्सह दोसाइं, नियडिं च सुणेह मे ॥ ३७ ॥ वड्ढई सुंडिआ तस्स, मायामोसं च भिक्खुणो । अयसो अ अनिव्वाणं, सययं च असाहुआ ॥ ३८ ॥ निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई । तारिसो मरणंते वि, न आराहेइ संवरं ॥ ३९ ॥ आयरिए नाराहेइ, समणे आवि तारिसो । गिहत्था वि णं गरिहंति, जेण जाणंति तारिसं ॥ ४० ॥

भावार्थः—अपने संयमकी रक्षा करनेवाले साधुको अपनी आत्माकी साक्षीसे केवली भगवान्से निषेध किये हुए ऐसे जव, पिष्टादिसे उत्पन्न शराव, महुडा प्रमुख का दारू तथा अन्यभी मादक वस्तुओंके रसका

सेवन नहीं करना चाहिये ॥ ३६ ॥ जो कोई साधु भगवान्की आज्ञाका चौर होकर दुष्ट संगतिसे भ्रष्टाचारी होकर मुझे कोई जानता नहींहे ऐसा मनमें विचार करके एकांत स्थानमें रहकर दारू पीता है तो हे शिष्य मैं तुमको उसके दोष तथा उसकी करी हुई माया बतलाता हूँ उसको तुम सुनो ॥ ३७ ॥ उस मदिरा पीनेवाले साधुको आसक्ति बढती है, वह किसीके पूछनेसे नहीं कहताहै कि मैंने मदिरा नहीं पी. उससे माया मृषावाद भी लगता है, स्वपक्ष तथा परपक्षमें अपकीर्त्ति बढती है, फिर वो वस्तु नहीं मिलने पर अतृप्ति रहा करती है और चारित्रमें बाधा आनेसे लोकमें निरंतर असाधुता बढती है ॥ ३८ ॥ जिस प्रकार चौर अपने कर्मके कारण सदा उद्वेगवाला रहता है, उसी चौरकी तरह संक्लिष्ट चित्तवाला यह दुर्मति साधु मृत्यु आने परभी सवरका आराधन नहीं कर सकता है ॥ ३९ ॥ मदिरा पीनेवाला आचार्य और साधुओं की आराधना तथा सेवा नहीं कर सकता है। और गृहस्थ भी उसकी निंदा करते हैं क्योंकि दुष्ट आचार को वे भी जान लेते हैं ॥ ४० ॥

मूल सूत्रं—एवं तु अगुणप्पेही, गुणाणं च विवज्जए। तारिसो मरणंतेऽवि, ण आराहेइ संवरं ॥ ४१ ॥

तवं कुव्वइ मेहावी, पणीअं वज्जए रसं । मज्जप्पमायविरओ, तवस्सी अइउक्कसो ॥ ४२ ॥ तस्स पस्सह कल्लाणं,अणेगसाहुपूइअं । विउलं अत्थसंजुत्तं, कित्तइस्सं सुणेह मे ॥ ४३ एवं तु सगुणप्पेही, अगुणाणं च विवज्जए (ओ) । तारिसो मरणंतेऽवि, आराहेइ संवरं ॥ ४४ ॥ आयरिए आराहेइ, समणे आवि तारिसे । गिहत्था-वि ण पूयंति, जेण जाणंति तारिसं ॥ ४५ ॥

भावार्थः—ऐसे अवगुणके स्थानको देखने वाला और गुणोंका त्याग करने वाला, साधु मृत्यु शय्या तकभी संवरका आराधन नहीं कर सकता है ॥ ४१ ॥ इसलिये बुद्धिमान् तपस्वी और गर्वरहित ऐसे साधुको स्निग्ध (पुष्टि कारक) घृतादि तथा मदिरा पानके प्रमादका त्याग करके तपस्या करनी चाहिये ॥ ४२ ॥ पूर्वोक्त गुणवाला साधुके गुण संपदा वाले संयमको तुमदेखो, जो अनेक साधुओं से सेवित, विस्तीर्ण ज्ञानसंपदा, यश और मोक्षार्थ सहित है, उसका वर्णन मैं करूंगा उसको तुम सुनो ॥ ४३ ॥ इस प्रकार अप्रमादादि गुणोंको अंगीकार करने वाला तथा प्रमादादि अवगुणोंका त्याग करनेवाला, ऐसे शुद्ध आचारको पालने वाला मृत्यु शय्या परभी संवरका आराधन करता है ॥ ४४ ॥ ऐसे गुणवाला साधु, आचार्यकी वैसेही अन्य साधुओं

कीभी आराधना (सेवा-भक्ति) करताहै और गृहस्थ भी उनकी पूजा करते हैं कारण कि उनके शुद्ध धर्म को वे भी जानते हैं ॥ ४५ ॥

मूल सूत्रं—तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे अ जे नरे । आयारभावतेणे अ, कुव्वई देवकिव्विस ॥ ४६ ॥ लध्धूण वि देवत्त, उववन्नो देवकिब्बिसे । तत्थावि से न याणाइ, किं मे किच्चा इमं फल ॥ ४७ ॥ तत्तो वि से चइत्ताण, लब्भिही एलमूअग । नरग तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ ४८ ॥ एअं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासिअ । अणुमायं पि मेहावी, मायामोसं विवज्जए ॥ ४९ ॥ सिक्खिऊण भिक्खेसण-सोहिं, संजयाण बुद्धाण सगासे । तत्थ भिक्खु सुप्पणिहिइंदिए, तिव्वलज्जगुणव विहरिज्जासि ॥ त्ति बेमि ॥५०॥

॥ इअ पिंडेसणाए बीओ उद्देसो ॥ इअ पिंडेसणाए पचममज्झयण समत्त ॥ ५ ॥

भावार्थः—तपका चौर, वचनका चौर, रूपका चौर, आचार का चौर और भावका चौर यह पांच जाति का चौर चारित्र पालते हुए भी नीच जातिके देवताओं में उत्पन्न होता है, यह बतलाते हैं:—प्रथम तपका चौर—स्वयं तपस्वी नहीं होते हुए भी किसीके पूछने पर हां हां कहना या मौन रहना, अथवा सामान्य

वचन बोलना, जिस तरहसे कि किसीने कोई दुर्बल साधुसे पूछा 'आप तपस्वी हो क्या'? तब कुछ भी उत्तर नहीं देनेसे पूछने वाला मनुष्य समझे कि यही तपस्वी हैं। अथवा स्वयं तपस्वी नहीं होते हुए भी कहना कि मैं तपस्वी हूँ। अथवा यह कहे कि साधु सब तपस्या करने वालेही होते हैं, इससे पूछनेवाला समझले कि यही तपस्वी हैं क्योंकि महात्मा पुरुष अपने मुंहसे अपने गुणोंका वर्णन नहीं करते हैं, इसलिये सामान्य वचन बोलते हैं। १। दूसरा वचनका चौर—वह शास्त्रोंकी बातें नहीं जानतेहुएभी वाणीकी चतुराई से सभारंजन करे, उससे कोई पूछे कि आपने आचारांगादि सूत्र पढे हैं क्या? तब सामान्य रीतिसे उत्तर दे कि साधु तो सब पढतेही हैं, इससे प्रश्न करनेवाला समझले कि यह सूत्र पढा हुआ है क्योंकि महात्मा पुरुष अपने मुंहसे अपनी प्रशंसा नहीं करते हैं; इसलिये सामान्य वचन कहते हैं.। २। तीसरा रूपका चौर—साधुको रूपवान् देखकर कोई पूछे कि आंप राजाके पुत्र थे क्या? तब मौन रहे, जिससे पूछने वाला जान ले कि यही राज पुत्र हैं क्योंकि महात्मा पुरुष अपने गुणोंको नहीं प्रकाशित करते हैं इसलिये मौन धारण किया है। ३। चौथा आचार का चौर—वैराग्यके बिना बाह्य क्रियाकरता देखकर कोई पूछे कि हे स्वामिन्!

बडे कठिन आचार वाले अमुक आचार्य के शिष्य सुननेमें आते हैं, सो आपही हैं क्या ? तब मौन धारण करले, जिससे वह पूछनेवाला समझले कि यही महान् आचार वाले उन आचार्यके शिष्य हैं, क्योंकि महात्मा पुरुष अपने गुण अपने मुहसे प्रकट नहीं करते हैं, इसलिये मौन धारण की है ॥ ४ ॥ पांचवाँ भावका चौर—वह किसी सूत्रादि के संदेहके विषयमें कोई गीतार्थ जानकार से पूछे और वह जब उत्तर दें तब स्वय कहे कि मैं भी इसी तरह जानता हूँ परन्तु आपकी परीक्षा के लिये पूछता था परन्तु सीधा उत्तर नहीं दे कि मैंने जाननेके लिये पूछा था ऐसे कपट करनेवाला नीच जाति के देवतामें उत्पन्न होता है ॥ ४६ ॥ पूर्वोक्त किया कलाप का समुह करके देवपना प्राप्त करके किलविष देवमें पैदा होकर वहां भी विना निर्मल अवधि ज्ञानके उसको खबर नहीं होती कि मैंने पिछले भवमें क्या कार्य किया था कि जिससे किलविष देवपने में उत्पन्न हुआहूँ ॥ ४७ ॥ वह साधु उस देवयोनि से—च्यवकर (निकल कर) मनुष्य योनि में बकरे की तरह बोलनेवाला (ल याडी) होता है और परम्परा से नरक तथा तिर्यंच योनिको प्राप्त करता है, इस हेतुसे जैन धर्मका पाना अत्यन्त दुर्लभ होता है ॥४८॥ साधुपना पालतेहुए भी किलविष देवयोनि

में पैदा होने के दोषोंको देखकर ज्ञातपुत्र श्री मान् वर्धमान स्वामीने कहाहै कि बुद्धिमान् पुरुषको थोडा भी माया मृषावाद का त्याग करना चाहिये ॥ ४९ ॥ यह पिंडेपणाकी शुद्धिके तत्त्वको जानकर संयमवान्, गुरु आदिके पास सीखकर वह ऐषणा समितिमें श्रोतादि पांचों इन्द्रियोंसे उपयोगवान् होकर तथा अनाचार सेवन करने में तीव्र लज्जावान् होकर पूर्वोक्त साधुके गुणोंके सहित विचरण करना चाहिये ॥ ५० ॥

इस पंचम अध्ययन में साधुओंके आहार-पानीकी मर्यादा बतलाया है वह विशेषकरके अपरिचय वाले अज्ञात कुलोंमें गौचरी जानेवाले, शरीर और आहारादिकी ममत्व रहित लूखा-सूखा जैसा निर्दोष मिले वैसे में ही सन्तोष माननेवाले आत्मार्थी मुनियोंके लिये है, वे मुनिजन कभी अन्न नहीं मिलने पर शाकादिसे भी शरीरको भाडा देनेरूप लूखी वृत्तिसे निर्वाह करलेते थे। और अभी इसकालमें तो टोले बंधी या गच्छ बंधीके वाडेमें दृष्टिरागी परिचयवाले भक्तोंके घरोंमें गौचरी जाकर मन चाहा स्वादिष्ट और गरीष्ट आहार लाकर शरीरको लष्ट-पुष्ट बनाने वालोंको अपने स्वादके लिये कंद मूलादि अचित्तहों तो भी लेना योग्य नहीं है। लेनेसे गृहस्थोंमें भी इसका विशेष आरम्भ बढता है। गुजरात मारवाडादि में संवेगियोंने

वैसी वस्तु लेना छोड दियाहै, इससे उन्होंके भक्तों में भी इसका व्यवहार बहुत जगह उठगया है और स्थानकवासी मुनिजन वैसीवस्तु लेतेहैं उससे उन्होंके भक्तोंमें इसका विशेप प्रचार है इसलिये लेना उचित नहीं है। इसी तरहसे चांवलादिका धोवण संबंधी भी अचित्त हुए बाद १ प्रहर तक अचित्त रहने की शास्त्र-कारोंने मर्यादा बतलाया है उसको समझे विना हरएक प्रकारके धोवण लेना व बहुत देरतक रखना योग्य नहीं है इसमें असख्य जीवोंकी उत्पति होना संभव है ॥ इति पिंडेपणा नामक पंचम अध्ययन समाप्त ॥

॥ अह छट्ठं धम्मत्थकामज्झयणं ॥

मूल सूत्र—नाण दंसणसपन्नं, संजमे अ तवे रयं। गणिमागमसंपन्नं, उज्जाणम्मि समोसढं ॥ १ ॥ रायाणो रायमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिआ। पुच्छंति निहुअप्पाणो, कहं भे आयारगोयरो ॥२॥ तेसिं सो निहुओ दंतो, सव्वभूअसुहावहो। सिक्खाए सुसमाउत्तो, आयक्खइ विअक्खणो ॥ ३ ॥ हंदि धम्मत्थकामाणं, निग्गंथाणं सुणेह मे। आयारगोअरं भीमं, सयलं दुरहिट्ठिअं ॥ ४ ॥ नन्नत्थ एरिसं वुत्तं, जं लोए परमदुच्चरं। विउल-ट्ठाणभाइस्स, न भूअं न भविस्सइ ॥ ५ ॥

भावार्थ—पांचवें अध्ययनमें भिक्षाकी शुद्धि वतायी गई है वह गौचरी गये हुए साधुको कोई साधुका आचार पूछे तो वहां पर विस्तारसे उत्तर न देकर यह कहना चाहिये कि उद्यान में या अन्य स्थान पर हमारे गुरु महाराज हैं वह फरमायेंगे, इस सम्वन्धसे प्राप्त हुए साधुके आचार का वर्णन इस छठे अध्ययनमें करते हैं। ज्ञान-दर्शन युक्त, संयम और तपमें लीन, आगम संपन्न, उद्यानमें समोसरे हुये (पधारे हुए) आचार्य महाराजसे राजा, प्रधान, ब्राह्मण अथवा क्षत्रियादि कोई हाथ जोडकर पूछे कि हे महाराज ! आपका आचार विचार किस रीतिका है ? ॥१–२॥ तव असंभ्रान्त, इन्द्रियोंके दमन करनेवाले, सर्व प्राणियोंके हितकारी और ग्रहण आसेवना रूप शिक्षासे युक्त ऐसे विचक्षण आचार्य उन राजादिक प्रश्नकर्ताओं को उत्तर दें ॥ ३ ॥ हे राजादिको ! धर्मकाही प्रयोजनकी अभिलाषा वाले निर्ग्रंथोंका आचार मैं कहताहूँ तुम श्रवण करो, इन निर्ग्रंथों का आचार कर्मशत्रुओंको महाभयंकरहै, अर्थात्–कर्मोंका नाशकरने वालाहै, वह अल्प सत्त्ववाले प्राणियोंको सव तरहसे दुःखसे आश्रय करने योग्यहै अर्थात्–पालनकरना वडा कठिन है, ॥ ४ ॥ हे राजादिको ! शुद्ध आ-चार वाले प्राणी लोकमें अति दुष्करहैं (वहुत थोडेहैं), उसी प्रकारसे अन्य दर्शनमें दुष्कर नहीं कहा गया

है, संयम स्थानके सेवनकरने वाले पुरुषोंको जिनमत से अन्यत्र ऐसा स्थल नहीं मिला और मिलेगा भी नहीं ॥ ५ ॥

मूल सूत्र—सखुड्डग विअत्ताण, वाहिआणं च जे गुणा। अखंडफुडिआ कायव्वा, तं सुणेह जहा तहा ॥ ६ ॥ दस अट्ठ य ठाणाइं, जाइं बालोऽवरज्झइ। तत्थ अन्नयरे ठाणे, निग्गथत्ताओ भस्सइ ॥ ७ ॥ वयछक्कं कायछक्क, अकप्पो गिहिभायण। पलियंकनिसे (सि) ज्जा य, सिणाण सोहवज्जण ॥ ८ ॥ तत्थिम पढम ठाण, महावीरेण देसिअ। अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु सजमो ॥ ९ ॥ जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा। ते जाणमजाणं वा, न हणे णो विघायए ॥ १० ॥

भावार्थः—यह आचारधर्म बाल साधुओंको, वैसेही वृद्ध साधुओंको, व्याधि वालोंको वैसेही व्याधि रहितवालों को, आगे कहनेमें आवेंगे वैसे गुण, देशविराधना तथा सर्व विराधना रहित पालन करने चाहिये, वह बतलाताहूँ तुम श्रवण करो ॥ ६ ॥ (अवगुणका त्याग करनेपर गुण प्रकटहोतेहैं इस कारणसे प्रथम अवगुण बतातेहैं) सयमके अट्ठारह स्थान कौनसेहैं कि जिनको अज्ञानी जीव विराधना करतेहैं, उनमेंसे एकभी स्थानकी विरा-

धना करनेसे निर्ग्रंथपना (साधुपना) से भ्रष्ट होताहै ॥ ७ ॥ (उन अट्ठारह स्थानोंको वतलातेहैं) प्राणातिपात विरति १, मृषावाद विरति २, अदत्तादान विरति ३, मैथुनविरति ४, परिग्रह विरति ५, रात्रिभोजन विरति ६, यह ६ व्रत और छः कायकी रक्षा १२, तथा ६ अकल्पनीय, सदोष आहारादि १, गृहस्थीका वर्तन २, पलंग ३, गृह ४, स्नान ५ और शोभाका त्याग ६, यह अट्ठारह स्थानहैं ॥ ८ ॥ इन अट्ठारह स्थानोंमेंसे पहला स्थान भगवान् महावीर देवने अहिंसा कहाहै, यह अहिंसा आधाकर्मादि दोषोंका त्यागकरके सूक्ष्म रीतिसे, धर्मके साधनकेलिये स्वयं दिखलाया है इसकारणसे सर्वजीवोंके ऊपर दयाकरनी चाहिये ॥ ९ ॥ इसलोकमें जितने त्रस अथवा स्थावर जीवहैं, उनजीवोंको जानतेहुए अथवा अजानतेहुए स्वयं मारे नहीं दूसरेसें मरवावे नहीं और मारनेवालेकी अनुमोदना भी करें नहीं ॥ १० ॥

मूल सूत्रं—सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जउं । तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥११॥ अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया । हिंसगं न मुसं बूआ, नोवि अन्नं वयावए ॥ १२ ॥ मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरिहिओ । अविस्सासो उ भूआणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥ १३ ॥

चित्तमतमचित्त वा, अप्पं वा जइ वा घहुं । दतसोहणमित्त पि, उग्गहंसि अजाइया ॥ १४ ॥ तं अप्पणा न गिण्हाति, नो वि गिण्हावए परं । अन्न वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणाति सजया ॥ १५ ॥

भावार्थ.—सर्वजीव जीनेकी और सुखकी इच्छा करतेहैं परन्तु मरनेकी और दु.खकी इच्छा कोई नहीं करताहे । इसहेतु घोर प्राणिवधका निर्ग्रंथ त्यागंकरतेहैं ॥ ११ ॥ (दूसरा स्थान) दूसरेको दु'खहो ऐसाझूठ साधुको अपने लिये अथवा दूसरे के लिये क्रोधसे अथवा भयसे स्वय घोलना नहीं उसीतरह दूसरेसेभी बुलवाना नहीं ॥ १२ ॥ झूंठ घोलना ससारमें सर्व उत्तम पुरुषोंने निंदित गिन रक्खाहे, झूंठ घोलनेवाला प्राणी अविश्वास करने योग्यहे, इस कारणसे असत्य भापण नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥ (तीसरा स्थान) जिस मनुष्यके अधिकारमें जो वस्तु हो, उस मनुष्यके पास याचना किये वगैर सचित्त अथवा अचित्त, थोडी अथवा घहुत, तथा दांत साफकरनेके लिये सलीमात्रभी लेनी नहीं । उसीतरह दूसरेसे लिवाना नहीं और लेनेवालेकी अनुमोदना भी साधुओंको नहीं करनी चाहिये ॥ १४–१५ ॥

मूल सूत्र—अवभचरिअं घोरं, पमायं दुरहिट्ठिअं । नायरति मुणी लोए, भेआययणवज्जिणो ॥ १६ ॥

मूलमयमेहम्मस्स, महादोससमुस्सयं । तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ १७ ॥ चिडमुब्भेइमं लोणं, तिल्लं सप्पिं च फाणिअं । न ते सान्निहिमिच्छंति, नायपुत्तवओरया ॥१८॥ लोहस्सेस अणुफासे, मन्ने अन्नयरामवि । जे सिआ सन्निहिं कामे, गिही पव्वइए न से ॥ १९ ॥ जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायंपुछणं । तं पि संजम-लज्जट्ठा, धारंति परिहरंति अ ॥ २० ॥

भावार्थः—(चोथा स्थान) संसारमें चारित्रका नाशहो वेसे स्थानका त्याग करने वाले मुनि, रौद्र अनुष्ठानके हेतुभूत, प्रमादके मूलरूप, ओर अनंतसंसारके हेतुरूप होनेसे जिनवचनके जानकार पुरुषने कभी अंगीकार कियानहीं ऐसा अब्रह्मचर्यको संयमीजन कभी आचरण करते नहींहें ॥ १६ ॥ यह अब्रह्मचर्य पापका मूल तथा चोरीप्रमुख बडे २ दोषोंका ढेर जेसाहे, इस कारणसे निर्ग्रंथ मैथुनके संसर्गका सर्वथा त्याग करतेहें ॥ १७ ॥ (पांचवां स्थान) भगवान् ज्ञातपुत्र वर्धमान स्वामीके वचनमें आसक्तहुए साधु गोमूत्रादिसे पकायेहुए प्रासुक लूण तथा समुद्रादिकका अप्रासुक नमक, तेल, घी, वेसेही ढीला (नर्म) गुडादिका रात्रिवासी रखनेकी इच्छा नहीं करतेहे ॥ १८ ॥ यह जो संनिधि रात्रिको रखनी वह लोभकी महिमाहे, में ऐसे मानताहूँ

कदाचित् कोई दूसरी थोडीभी संनिधि साधु रात्रिको राखे तो गृहस्थ मानना चाहिये, परतु साधु नहीं कहना चाहिये ॥ १९ ॥ यहांपर कोई शका करतेहैं कि साधु वस्त्रादिक रखतेहैं वह सनिधि क्यों नहीं कहलातीहै ? उसका उत्तर देते हैं कि जो यह वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण आदि साधु रखतेहैं वह संयमके लिये तथा लज्जाकेलिये रखते हैं और मोह रहित उसका उपयोग करतेहैं ॥ २० ॥

मूल सूत्रं—न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा । मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥ २१ ॥ सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, सरक्खणपरिग्गहे । अवि अप्पणोऽवि देहमि, नायरंति ममाइयं ॥ २२ ॥ अहो निच्चं तवो कम्म, सव्वबुद्धेहिं वन्निअं । जाव लज्जासमा वित्ती, एगभत्त च भोअणं ॥२३ ॥ संति मे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा । जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणिअं चरे ॥ २४ ॥ उदउल्लं बीअसंसत्तं, पाणा निवडिया महिं । दिआ ताइं विवज्जिज्जा, राओ तत्थ कहं चरे ॥ २५ ॥ एअं च दोसं दट्ठू णं, नायपुत्तणे भासियं । सव्वाहार न भुंजति, निग्गंथा राइभोअणं ॥ २६ ॥

भावार्थः—स्व तथा परको तारनेवाले ज्ञातपुत्र श्रीवर्द्धमानस्वामीने ममता भावके बिना वस्त्रादि धारणकरने

वालेको परिग्रह नहींकहा, परन्तु मूर्छा (आसक्ति) को ही परिग्रह कहाहै और इसलियेही महर्षि श्रीमान् शय्यंभवसूरिजीने सूत्रमें वैसाही कहाहै ॥ २१ ॥ ज्ञानी सर्व उचित देशकालमें उपधि (वस्त्रादि) सहित होतेहैं, परंतु वहभी छः कायके जीवोंकी रक्षाके लियेही अंगीकार करतेहैं, क्योंकि वह स्व शरीरपरभी ममत्व रखते नहीं है तो वस्त्रोंपर ममत्व नहीं रक्खें उसमें कहनाही क्याहै ॥ २२ ॥ (छट्ठा स्थान) संयम के साथ विरोध नहींहो उसरीतिसे देहका पालन करतेहुए हमेशा तप करनेका सर्व तीर्थंकरोंने कहाहै और दिनमें एकबार भोजन करनेका कहाहै ॥ २३ ॥ रात्रि भोजन करनेसे प्राणियोंका विनाश होनेसे कर्म बंध होताहै वह बतातेहैं: प्रत्यक्ष दीखते हुए कितनेही ऐसे सूक्ष्म त्रस अथवा स्थावर प्राणीहैं कि जो रात्रिको नेत्रोंसे देखनेमें नहीं आसकते, उनके नहीं देखनेसे साधु रात्रिको निर्दोष गौचरी किसप्रकार फिर सकताहै अथवा किसरीतिसे भक्षण कर सकताहै क्योंकि रात्रिको गौचरी फिरनेसे अथवा खानेसे प्राणियोंका घात होताहै ॥ २४ ॥ रात्रिको गौचरी जातेहुए, आहार सचित्त जलसे भीगा हुआ मिले अथवा अन्न आदिके बीजोंसे मिश्रितमिले वैसेही मार्गमें पृथ्वीपर संपात्तिम (उड़ते हुए) आदि प्राणी रहे हों तो दिनमेंतो उनका त्याग कर सकतेहैं परंतु रात्रि-

में उनका त्याग करके किसप्रकार चल सकतेहैं, ॥ २५ ॥ यह पूर्वोक्त दोष रात्रि भोजनमें देखकर ज्ञात पुत्र श्रीमान् वर्धमान स्वामी ने कहा है कि साधुको सर्वथा रात्रिमें चार प्रकारका आहार खाना नहीं चाहिये ॥ २६ ॥

मूल सूत्रं— पुढविकाय न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा । तिविहेण करणजोएण, सजया सुसमाहिआ ॥ २७ ॥ पुढविकाय विहिंसतो, हिंसई उ तयस्सिए । तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ २८ ॥ तम्हा एअं विआणित्ता, दोस दुग्गइवड्ढण । पुढविकायसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥ २९ ॥ आउकायं न हिंसति, मणसा वयसा कायसा । तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिआ ॥ ३० ॥ आउकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए । तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ ३१ ॥ तम्हा एअं विआणित्ता, दोस दुग्गइवड्ढण । आउकायसमारभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥ ३२ ॥

भावार्थः—अब छःकाय संबधी छ. स्थान कहते हैं (सातवां स्थान) सुसमाधिमान् साधु पृथ्वीकाय की मन, वचन, कायासे स्वयं हिंसा करते नहीं, दूसरेसे हिंसा करवाते नहीं और हिंसा करनेवालेकी अनुमोदना

भी नहीं करते हैं ॥ २७ ॥ पृथ्वीकायकी हिंसाकरते हुए उसकी निश्रामें आश्रित रहेहुए त्रसजीव तथा अन्य विविध प्रकारके चक्षुसे देखे जाने योग्य अथवा चक्षुसे नहीं देखेजाने योग्य ऐसे प्राणियोंकी घात करता है ॥ २८ ॥ पृथ्वीकायकी हिंसा करते हुए उसकी निश्रामें रहेहुए अन्यजीव भी मारेजाते हैं, ऐसे दोष दुर्गतिको बढ़ानेवाले हैं, ऐसा जानकर पृथ्वीकायके समारंभका यावत् जीवन पर्यंत त्याग करना चाहिये ॥ २९ ॥ (आठवां स्थान) सुसमाधिवंत साधु अपकायको मन, वचन, कायासे मारेनहीं दूसरेसे मरवावे नहीं और मारनेवालेका अनुमोदन भी नहीं करे. जलकी हिंसा करनेसे उसकी निश्रामें रहे हुए त्रस तथा अन्य विविध प्रकार के चक्षुगोचर अथवा अगोचर ऐसे प्राणियोंकी हिंसा होती है, ऐसे दोष दुर्गतिको बढाने वाले होते हैं ऐसा जानकर अप्पकायके आरम्भ का जावजीव त्यागकरे ॥ ३०-३१-३२ ॥

मूल सूत्रं—जायतेअं न इच्छंति, पावगं जलइत्तए । तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओऽवि दुरासयं ॥ ३३ ॥ पाईणं पडिणं वावि, उड्ढं अणुदिसामवि । अहे दाहिणओ वा वि, दहे उत्तरओ वि अ ॥ ३४ ॥ भूआणमे-समाघाओ, हव्ववाहो न संसओ । तं पईवपयावट्ठा, संजया किंचि नारंभे ॥ ३५ ॥ तम्हा एयं वियाणित्ता,

दोसं दुग्गइवड्ढणं । तेउकायसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥ ३६ ॥ अणिलस्स समारंभं, बुद्धा मन्नंति तारिसं । सावज्जबहुल चेअं, नेअ ताईहिं सेविअं ॥ ३७ ॥ तालिअटेण पत्तेण, साहाविहुअणेण वा । न ते वीइउमिच्छाति, वीआवेऊण वा परं ॥ ३८ ॥ जं पि वत्थं व (च) पायं वा, कवलं पायपुंछणं । न ते वायमुईराति, जय परिहराति अ ॥ ३९ ॥ तम्हा एअ विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढण । वाउकायसमारंभ, जावज्जीवाइ वज्जए ॥ ४० ॥

भावार्थ.—(नवमां स्थान) पाप रूप, और तिक्षण जाज्वल्यमान सर्व तरफसे धारवाला, उसका आश्रय करने से ही दुःख होता है तथा अनेक जीवोंका संहार करनेवाला भयंकर शस्त्रके समान पापकारी अग्निको जलानेके लिये मुनि कभी इच्छा नहीं करते हैं ॥ ३३ ॥ पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशामें तथा उर्ध्व, अधो और विदिशाओं में भी अग्नि सर्वत्र वस्तुको जलाती है ॥ ३४ ॥ यह अग्नि सब प्राणियोंका घात करनेवाली है इसमें कुछभी संशय नहीं है, इस कारणसे साधु दीपकके लिये वैसेही ताप आदिके लिये कुछभी उसका आरम्भ नहीं करते हैं ॥ ३५ ॥ दुर्गतिको बढानेवाले अग्निसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको

जानकर यावत् जीवन पर्यंत अग्निकायके आरम्भका त्याग करना चाहिये ॥ ३६ ॥ (दशवां स्थान) तीर्थंकर भगवान् वायुकायके आरम्भ को भी अग्निके आरम्भ के समान ही मानते हैं इसलिये अधिक पापवाले वायुके आरम्भको भी छः काय के रक्षक मुनि कभी नहीं करते हैं ॥ ३७ ॥ ताडके पंखेसे, पत्तोंसे, वैसेही शाखादि को हिला कर साधु स्वयं पवन करते नहीं हैं, उसी तरह दूसरेसे भी हवा करवाते नहीं हैं ॥ ३८ ॥ और वस्त्र, पात्र, कंवल, रजोहरणादि धर्मोकरणसे भी वायु चलानेकी उदीरणा (प्रेरणा) नहीं करते हैं परन्तु यत्ना सहित वायुकायकी विराधना का त्याग करते हैं ॥ ३९ ॥ दुर्गतिको वढानेवाले दोष उत्पन्न होते हुए जानकर साधु यावत् जीवन पर्यंत वायुकायके आरंभ का त्याग करते हैं ॥ ४० ॥

मूल सूत्रः—वणस्सइं न हिंसंति, मणसा वयस कायसा । तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिआ ॥ ४१ ॥ वणस्सइं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए । तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ ४२ ॥ तम्हा एयं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं । वणस्सइ समारंभं, जावज्जीवाए (इ) वज्जए ॥ ४३ ॥

भावार्थः—(इग्यारवां स्थान) सुसमाधिवंत साधु मन, वचन, कायासे करने, करवाने और अनुमोदन

करने रूप वनस्पति कायकी हिंसा नहीं करते हैं, वनस्पतिकी हिंसा करते हुए उसकी निश्रामें रहेहुए त्रस और चक्षुगोचर अथवा अगोचर ऐसे अन्य विविध प्रकारके प्राणियों की हिंसा होजाती है। और इन जीवों की हिंसा होनेसे दुर्गतिको बढाने वाले दोषोंका उत्पन्न होना जानकर यावत् जीवन् पर्यंत साधु वनस्पतिके आरम्भ का त्याग करते हैं ॥ ४१–४२–४३ ॥

मूल सूत्रं—तसकायं न हिंसाति, मणसा वयस कायसा। तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिआ ॥ ४४ ॥ तसकाय विहिंसतो, हिंसई उ तयस्सिए। तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ ४५ ॥ तम्हा एअ विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं। तसकायसमारंभ, जावजीवाए (इ)वज्जए ॥ ४६ ॥

भावार्थः— (बाहरवा स्थान) सुसमाधिवत साधु मन, वचन काया रूप तीन योगोंसे करने, करवाने और करने वालेका अनुमोदन रूप तीन करणोंसे त्रसकायकी हिंसा नहीं करतेहैं, त्रसकायको हिंसा करते हुए उसकी निश्रामें रहेहुए अन्य त्रस तथा चक्षुसे देखने योग्य अथवा नहीं देखने योग्य ऐसे विविध प्रकारके जीवों की विराधना होतीहै, इनजीवोंकी हिंसासे दुर्गतिको बढानेवाले दोष उत्पन्न होतेहैं, ऐसा जानकर यावत् जीव-

न पर्यंत साधु त्रसकायके आरम्भका त्याग करते हैं ॥ ४४–४५–४६

मूल सूत्रं—जाइं चत्तारि भुज्जाइं, इसिणाऽऽहारमाइणि । ताइं तु विवज्जंतो, संजमं अणुपालए ॥ ४७ ॥ पिंडं सिज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य । अकप्पिअं न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पिअं ॥ ४८ ॥ जे नियागं ममायंति, कीअ–मुद्देसि–आहडं । वहं ते समणुजाणंति, इअ उ (वु) त्तं महेसिणा ॥ ४९ ॥ तम्हा असणपाणाइं, कीयमुद्देसियाहडं । वज्जयंति ठिअप्पाणो, निग्गंथा धम्मजीविणो ॥ ५० ॥

भावार्थः— (तेहरवां अकल्प स्थान) जो आहारादि साधुओंको अकल्पनीयहैं, उनका त्याग करते हुये संयमका पालना करना चाहिये ॥ ४७ ॥ यह चार प्रकारके अकल्पनीय बताते हैंः—आहार, उपाश्रय, वस्त्र और चौथा पात्र, यह चार अकल्पनीक दोषवाला स्व उपयोगकेलिये नहीं इच्छना चाहिये, परन्तु यदि यह निर्दोष हों तो ग्रहण करना चाहिये ॥ ४८ ॥ जो कोई साधु निमंत्रणा कियेहुये आहारको यह मेरा आहारहै ऐसा जानकर ग्रहणकरे तथा मौल खरीदकर लायाहुआ, साधुके निमित्त बनायाहुआ, और घरसे अथवा गांवसे सामनेलाया हुआ आहारको ग्रहणकरे तो आहार लानेमें तथा बनानेमें जो छः कायकी विराधना होतीहै वह उसकी अनु-

मोदना करताहै, ऐसा भगवन् महावीर स्वामीने कहाहै ॥ ४९ ॥ इस कारणसे सत्त्ववाला वैसेही सयंमरूप जीवितव्यवाला मुनि आहार-पानी आदि मोल लायेहुए या अपने निमित्तसे बनायेहुए और सन्मुख लाये हुएका त्याग करतेहैं ॥ ५० ॥

मूल सूत्रं—कसेसु कसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो। भुंजंतो असण-पाणाइं, आयारा परिभस्सइ ॥ ५१ ॥ सीओदग समारभे, मत्तधोअणछड्डणे। जाइ छिंनति भूआइं, दिट्ठो तत्थ असजमो ॥ ५२ ॥ पच्छाकम्मं पुरे कम्मं, सिआ तत्थ न कप्पइ। एअमट्ठं न भुंजति, निग्गंथा गिहिभायणे ॥ ५३ ॥

भावार्थ—(चौदहवां गृहस्थ भाजन नामक स्थान) कांसीके कटोरेमें तथा कासीकी थालीमें, मिट्टीके कुंडेमें और अन्य गृहस्थके वर्तनोंमें अशन पानादि करने से भी साधु अपने आचारसे भ्रष्ट हो जाताहै ॥ ५१ ॥ गृहस्थके वर्तनमें खानेके दोष वतलाते हैं—साधुके जीमनेके लिये गृहस्थ उन वर्तनोंको कच्चे जलसे धोनेका आरम्भ करतेहैं, जीमनेके बाद पात्रधोनेके लिये सचित्त पानी लेतेहैं और जब उस पानीको वर्तन धोनेके बाद फेंक देतेहैं तब पानी आदिके जीवोंका नाश होताहै, इसलिये गृहस्थके वर्तनोंमें भोजन करनेसे केवली भगवा-

न्ने साधुको असंयम होवे ऐसा कहा है ॥ ५२ ॥ गृहस्थके वर्तनमें जीमने से कदाचित् पूर्वकर्म (जीमनेसे पहले दोप लगे) अथवा कदाचित् पश्चात् कर्म (जीमनेके बाद वर्तन धोनेके दोप लगे) ऐसे दोष लगनेसे उसमें खाना कल्पे नहीं, इस कारणसे साधु गृहस्थके वर्तनमें आहार नहीं करते हैं ॥ ५३ ॥

मूल सूत्रं— आसंदीपलिअंकेसु, मंचमासालएसु वा । अणायरिअमज्जाणं, आसइत्तु सइत्तु वा ॥ ५४ ॥ नासंदीपलिअंकेसु, न निसिज्जा न पीढए । निग्गंथाऽपडिलेहाए, बुद्धवुत्तमहिट्ठगा ॥ ५५ ॥ गंभीरविजया एए, पाणा दुप्पडिलेहगा । आसंदी पलिअंको अ, एयमट्ठं विवज्जिआ ॥ ५६ ॥

भावार्थः— (पंद्रहवा स्थान) साधुको भद्रासन, पलंग, खाट, वैसेही आराम कुर्सी आदि आसनपर वैठनेके लिये, वैसेही सोनेके लिये अनाचरित हें (सोने योग्य नहींहे) क्योंकि पोला होनेसे उसमें रहेहुए जीवोंका मरना सम्भव है ॥ ५४ ॥ अव इस सूत्रका अपवाद वतलाते हैंः— कदाचित् राजसभा आदि में धर्म कथाके लिये वैठनापड़े, तो जिनेश्वरके कहेहुये अनुष्ठान करनेवाले साधु को भद्रासन, पलंग, कुर्सी, पट्टा वगैरहका पडि-लेहण किये विना उसपर वैठना नहीं ॥ ५५ ॥ यह भद्रासन, पलंग आदि अप्रकाश आश्रयवालेहैं, उनके छिद्र

वाले भागोंमें जीव भरे रहतेहैं, इसलिये वे प्रगट रूपसे देखनेमें नहीं आतेहैं और बैठनेसे उनको पीड़ा होती है इसलिये उनमें भरेहुये प्राणियोंको दृष्टिसे नहीं देख सकनेके कारण उनका त्याग करना चाहिये ॥ ५६ ॥

मूल सूत्र—गोअरग्गपविट्ठस्स, निसिज्जा जस्स कप्पइ । इमेरिसमणायारं, आवज्जइ अवोहिअं ॥ ५७ ॥ विवत्ती बंभचेरस्स, पाणाण च वहे वहो । वणीमगपडिग्घाओ, पडिकोहो अगारिणं ॥ ५८ ॥ अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्थीओ वा वि संकणं । कुसीलवड्ढण ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥ ५९ ॥ तिण्हमन्नयरागस्स, निसिज्जा जस्स कप्पई । जराए अभिभूअस्स, वाहिअस्स तवस्सिणो ॥ ६० ॥

भावार्थ—(सोलहवा स्थान) गौचरी गया हुआ साधु जो गृहस्थके घर बैठे तो आगे कहनेमें आवेगा वैसे अनाचारको प्राप्त होताहै कि जिसका फल मिथ्यात्वकी प्राप्ति होतीहै ॥ ५७ ॥ (वह अनाचार बतातेहैं) गृहस्थके घर बैठनेसे ब्रह्मचर्य्यका नाशहो, परिचयके कारण आधाकर्मादि आहार तैयार करके देवे तो प्राणियोंका वधहो, और प्राणी–वधसे संयमकी विराधनाहो, भिक्षाचारोंको पीछा लौटना पड़े और गृहस्थको साधु पर अथवा अपनी स्त्री पर क्रोध आवे, ब्रह्मचर्यका नाश हो तथा अपनी स्त्रीकी तरफसे उसके स्वामी

को शंकाहो, इसहेतु कुशीलको वढानेवाले स्थानोंका साधु दूरसे त्याग करे ॥ ५८–५९ ॥ (अव इस सूत्रका अपवाद कहते हैं:— वृद्धावस्थासे दुःखी, व्याधिवाला, और तपस्वी इनतीनोंमें से किसीको भी यदि गौचरी जातेहुए थकावट होजाय तो गृहस्थके घरपर वैठना कल्पता है ॥ ६० ॥

मूलसूत्रं—वाहिओ वा अरोगी वा, सिणाणं जो उ पत्थए । वुक्कंतो होइ आयारो, जढो हवइ संजमो ॥ ६१ ॥ संतिमे सुहुमा पाणा, घसासु भिलुगासु अ । जे अ भिक्खू सिणायंतो, विअडेणुप्पिलावए ॥ ६२ ॥ तम्हा ते न सिणायंति, सीएण उसिणेण वा । जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाणमहिट्ठगा ॥ ६३ ॥ सिणाणं अदुवा कक्कं, लुद्धं पउमगाणि अ । गायस्सुव्वट्टणट्ठाए, नायरंति कयाइ वि ॥ ६४ ॥

भावार्थः—(सत्रहवां स्थान) जो साधु रोगीहो अथवा निरोगींहो, यदि स्नानकरने की इच्छा करे तो उसका आचार चला जाता है और वह संयमसे भ्रष्ट हो जाताहै ॥ ६१ ॥ पोली पृथ्वीमें तथा रेखाएँवाली पृथ्वीमें सूक्ष्मजीव रहते हैं वे साधुके जलसे स्नान करनेसे भीगतेहैं, उससे उन जीवोंकी विराधना होतीहै ॥ ६२ ॥ इस कारणसे ठंडे अथवा उष्णजल से स्नान नहीं करतेहैं परन्तु यावत् जीवन पर्यंत स्नान नहीं

करनेरूप घोर व्रतको अगीकार करनेवाले होते हैं ॥ ६३ ॥ तथा चंदन, लोध्र, केसरादि विविध प्रकारके सुगंधी द्रव्य शरीरके चोलने (मसलने) के लिये उपयोग में नहीं लाते हैं ॥ ६४ ॥

मूल सूत्र—नगिणस्स वा वि मुंडस्स, दीहरोमनहंसिणो । मेहुणाओ उवसतस्स, किं विभूसाइ कारिअं ॥ ६५ ॥ विभूसावत्तिअं भिक्खू, कम्म बधइ चिक्कणं । ससारसायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥ ६६ ॥ विभूसावत्तिअ चेअ, वुद्धा मन्नंति तारिसं । सावज्जवहुलं चेअ, नेयं ताईहिं सेविअ ॥ ६७ ॥ खवति अप्पाणममोहदसिणो, तवे रया संजम-अज्जवे गुणे । धुणंति पावाइं पुरेकडाइ, नवाइ पावाइ न ते करति ॥ ६८ ॥ सओवसंता अममा अकिंचणा, सविज्जविज्जाणुगया जससिणो । उउप्पसन्ने विमले व चंदिमा, सिर्द्धि विमाणाइं उवेंति ताइणो,॥ त्ति वेमि ॥ ६९ ॥ इअ छट्ठ धम्मत्थकामज्झयण समत्त ॥ ६ ॥

भावार्थ—(अट्ठारहवा स्थान) नग्न अथवा थोडे प्रमाणमें वस्त्र रखनेवाला, द्रव्य—भावसे मुंडित हुआ, दीर्घरोम अथवा नखवाला तथा मैथुनसे शान्ति पायाहुआ स्थविर-कल्पी अथवा जिन-कल्पीको भूषा (शृंगार) का क्या प्रयोजन है ? अर्थात्—कुछ नहीं ॥ ६५ साधु विभूषाके निमित्त बहुत अधिक कर्म बांधते हैं जिसका

दुःखसे पार उतरसके ऐसे घोर संसार–समुद्रमें पडता है ॥ ६६ ॥ विभूषा संवंधी संकल्पवाले चित्तको भी तीर्थंकर विभूषाके जैसा मानते हैं, इसलिये आर्त्तध्यान करके अधिक पापवाले ऐसे चित्तको मुनि नहीं सेवते हैं ॥ ६७ ॥ वस्तु धर्मको यथावस्थित देखनेवाले साधु अपनी आत्माको शुद्धकरते हैं फिर संयम और आर्जव गुणवाले, तपस्यामें लीन होकर पूर्व किये हुये पापोंको खपाते हैं और नये पापों को करते हैं नहीं ॥ ६८ ॥ निरन्तर उपशांत, ममता रहित, परिग्रह रहित, परलोक उपकारिणी आत्मा विद्या सहित, यशस्वी, शरद्ऋतुके चन्द्रमाके समान निर्मल, भाव-मल रहित साधु मोक्षमें जाते हैं तथा जो कर्म शेषरहे हों तो देवलोकमें जाते हैं ॥ ६९ ॥ इति धर्मार्थ कामाख्यानं षष्टमध्यनयम् ॥

॥ अह सुवकसुद्धी णाम सत्तमं अज्झयणं ॥

छट्टे अध्ययनमें बताया गया है कि गौचरी गये हुए साधुसे कोई साधुका आचार या कुछ धर्म संबंधी पूछे तो स्वयं जानते हुये भी उस स्थल पर विस्तारसे न कहकर, कहना चाहिये कि उपाश्रयमें मेरे गुरु महाराज हैं वे कहेंगे, फिर वह पूछनेवाला उपाश्रयमें गुरुके पास आवे तव भाषा संबंधी गुण दोषके जानने वाले गुरु

निरवद्य भापामें आचार तथा उपदेश कहें, इस सम्बन्धसे प्राप्तहुए सातवें अध्ययनमें वचन शुद्धि कहते हैं—

मूल सूत्रं—चउण्हं खलु भासाण, परिसखाय पन्नवं। दुण्ह तु विणयं सिक्खे, दो न भासिज सव्वसो ॥ १ ॥ जा अ सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा अ जा मुसा। जा अ बुद्धेहिं नाइन्ना, न त भासिज पन्नवं ॥ २ ॥ असच्चमोसं सच्च च, अणवज्जमकक्कसं। समुप्पेहमसदिद्ध, गिरं भासिज्ज पन्नवं ॥ ३ ॥ एय च अट्ठमन्नं वा, ज तु नामेइ सासय। स भासं सच्चमोसं च (पि), त पि धीरो विवजए ॥ ४ ॥ वितह पि तहामुत्तिं, जं गिर भासए नरो। तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुण जो मुस वए ॥ ५ ॥

भावार्थ.—बुद्धिमान् पुरुष सत्यादि चार भापाओंको जानकर, उनमेंसे दो भाषाओंको निर्दोपपने बोलनेमें प्रयोगकरे और दूसरी दो भापा सर्वथा बोलनेका त्यागकरे ॥ १ ॥ जो भापा साधुओंके बोलने लायक नहीं है वह बतातेहैं—भापा चार प्रकारकीहैं—सत्यभापा १, असत्य भापा २, सत्यामृपा अर्थात् मिश्र, कुछ सच्ची और कुछ झूठी ३, असत्यामृपा अर्थात्—व्यवहार भापा, सच्चीभी नहीं और झूठीभी नहीं ४, इन चार प्रकारकी भापाओंमें प्रथम भापा सत्य बोलनाहै परन्तु जो सत्य वचन बोलते हुये पापकारीहो, अन्यको हानि कारकहो

तो वह साधुको बोलने योग्य नहीं १, तथा मिश्रभापा और असत्यभापा यह दोनों भापायें तो सर्वथा साधु के बोलने योग्य नहींहैं क्योंकि तीर्थंकर महाराजने वे भापा अंगीकार की नहीं, वैसेही चौथी जो व्यवहार भापाहै, वहभी अयोग्य रीतिसे बुद्धिमान् साधुको बोलने योग्य नहीं हे ॥२॥ साधुको बोलने लायक भापा निर्दोप, पाप रहित, कठोरता रहित, स्व तथा पर उपकारी और संदेह रहित ऐसी व्यवहार भाषा तथा सत्यभापा यह दो प्रकारकी भापा बुद्धिमान् साधुको बोलनी चाहिये ॥ ३ ॥ पहले निपेध की हुई सावद्य (हिंसाकारी) तथा कठोर भापा और उसकी जेसी अन्य भापा जो कि मोक्षके प्रतिकूलहो, ऐसी व्यवहार भापा तथा सत्यभापाभी बुद्धिमान् साधुको त्याग करनी चाहिये ॥ ४ ॥ सत्यवस्तुके जेसे स्वरूप प्राप्त असत्य होते हुयेभी उसका आश्रय लेकर वैसे वचन बोलने वाला मनुष्य पापकर्म बांधताहे, इसलिये जो मनुष्य असत्य बोले वह पापकर्म बंधन करे उसमें तो कहना ही क्या हे ॥ ५ ॥

मूल सूत्रं—तम्हा गच्छामो वक्खामो, अमुगं वा णे भविस्सइ । अहं वा णं करिस्सामि, एसो वा णं करिस्सइ ॥ ६ ॥ एवमाइ उ जा भासा, एसकालम्मि संकिआ । संपयाइअमट्ठे वा, तं पि धीरो विवज्जए ॥ ७ ॥

अईअम्मि अ कालम्मि, पच्चुप्पण्णमणागए। जमट्ठं तु न जाणिज्जा, एवमेअंति नो वए ॥ ८ ॥ अईअम्मि अ कालम्मि, पच्चुप्पण्णमणागए। जत्थ संका भवे तं तु, एवमेअ तु नो वए ॥ ९ ॥ अईअम्मि अ कालम्मि पच्चुप्पण्णमणागए। निस्संकिअं भवे जं तु, एवमेअं तु निद्दिसे ॥ १० ॥

भावार्थ —असत्य होते हुये भी सत्य वस्तुके जैसे स्वरूपको प्राप्त, उसके आश्रय वचनके बोलनेसे भी कर्म बंधन होता है तो 'मैं जाऊँगा' 'मैं ऐसा कहूँगा' 'मेरा अमुक कार्य नहीं होगा' अथवा 'मैं यह कार्य करुगा' अथवा 'यह मेरा कार्य करेगा' इत्यादि भविष्य संबंधी शंकावाली-भाषा, वैसेही वर्तमान काल संबंधी तथा भूतकाल संबंधी भाषा बुद्धिमान् साधुको नहीं बोलना चाहिये क्योंकि यदि बोले वैसा नहीं बने तो असत्यका दोष तथा लोकमें लघुता आदि होती है ॥ ६–७ ॥ भूत, वर्तमान, भविष्यकाल संबंधी जिस वस्तुको स्वयं नहीं जाने उसके संबंधमें यह ऐसी है अथवा यह इस प्रकार थी, ऐसा साधुको नहीं बोलना चाहिये ॥ ८ ॥ भूत, वर्तमान और भविष्य काल सम्बन्धी जिस वस्तुमें-शंकाहो उस वस्तुके सम्बन्धमें–वह वस्तु यही है ऐसा बोलना नहीं चाहिये ॥ ९ ॥ भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल सम्बन्धी जिस वस्तु

में निःशंकपना हो तथा वह निष्पापहो तो वह वस्तु इस प्रकार है ऐसा कहना चाहिये ॥ १० ॥

मूल सूत्रं—तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी। सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥११॥ तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा। वाहिअं वा वि रोगित्ति, तेणं चोरेत्ति नो वए ॥ १२ ॥ एएणऽन्नेण अट्ठेणं, परो जेणुवहम्मइ। आयारभावदोसन्नू, न तं भासिज्ज पण्णवं ॥ १३ ॥ तहेव होले गोलि त्ति, साणे वा वसुलित्ति अ। दुमए दुहए वा वि, नेवं भासिज्ज पण्णवं ॥ १४ ॥ अज्जिए पज्जिए वा वि, अम्मो माउस्सिउ त्ति अ। पिउस्सिए भायणिज्जत्ति, धूए णत्तुणिअत्ति अ ॥ १५ ॥ हले हलित्ति अन्नित्ति, भट्टे सामिणि गोमिणि। होले गोले वसुलित्ति, इत्थिअं नेवमालवे ॥ १६ ॥

भावार्थः—फिर कठोर तथा जिससे पापकी प्राप्ति हो वैसी और अधिक जीवोंके नाश करनेवाली सत्य भाषा भी बोलना नहीं चाहिये ॥ ११ ॥ जैसे—काणेको काणा, नपुंसकको नपुंसक, रोगवालेको रोगी और चोरको चोर कहना नहीं चाहिये, ऐसा कहनेसे अप्रीति, लज्जाका नाश, रोगकी वृद्धि, और विराधना आदि दोष उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥ बुद्धिमान् साधुको, इस पूर्वोक्त भाषाको तथा जिससे दूसरों को दुःख हो

वैसा बोलना नहीं चाहिये ॥१३॥ वैसेही बुद्धिमान् साधुको मूर्ख, जार (व्यभिचार) से उत्पन्न, कुत्ता, अनाचारी, भिक्षुक, और दुर्भाग्य ऐसे शब्द भी किसीसे नहीं कहना चाहिये ॥ १४ ॥ साधुको हे आर्यिके, हे पार्यिके, माता, मासी, फोई (भुआ), भानजी, पुत्री, पोत्री, अली २, अन्ने, भट्टे, स्वामिनि, गोमिनि, होले, गोले, छिनाल इत्यादि शब्दोंसे स्त्रीको बुलाना नहीं चाहिये इनमेंसे होला आदि कितनेही शब्द अन्य देशोंकी अपेक्षा निन्दा वाचक हैं और कितनेही शब्द प्रीति उत्पन्न करनेवाले हैं, इसलिये ऐसा बोलनेसे, निंदा, द्वेष और प्रवचन की लघुता होती है ॥ १५--१६ ॥

मूल सूत्रं—णामधिज्जेण णं बूआ, इत्थीगुत्तेण वा पुणो । जहारिहमभिगिज्झ, आलविज्ज लविज्ज वा ॥ १७ ॥ अज्जए पज्जए वा वि, वप्पो चुल्लपिउ त्ति अ । माउलो भाइणिज्ज त्ति, पुत्ते णत्तुणिअ त्ति अ ॥१८॥ हे भो ! हलित्ति अन्नित्ति, भट्टे सामिअ गोमिअ । होल गोल वसुलित्ति, पुरिस नेवमालवे ॥ १९ ॥ नामधिज्जेण णं बूआ, पुरिसगुत्तेण वा पुणो । जहारिहमभिगिज्झ, आलविज्ज लविज्ज वा ॥ २० ॥

भावार्थः—स्त्रीको किस प्रकार बुलाना चाहिये--कोई कारण होने पर साधु उस स्त्रीका नाम लेकर बुलावे

अथवा स्त्रीके गौत्रसे यथा-योग्य देशकालका अनुसरण करके, गुण, दोष विचारकर, थोडा अथवा अधिक बुलावे जैसे-देवदत्ता, काश्यप गौत्री, बाला, वृद्धा, धर्मशीला, धर्मप्रिया आदि शब्दोंसे बुलावे ॥ १७ ॥ तथा पुरुषों को भी हे आर्यक, पार्यक, पिता, काका, मामा, भानजा, पुत्र, पौत्र, हे, भो, हल, अन्न, भट्ट, स्वामी, गौमि, होल, गोल, व्यभिचारी आदि नामोंसे बुलाना नहीं, क्योंकि इस प्रकार बुलानेसे राग तथा अप्रीति-द्वेषादि दोषोंका संभव होता है ॥ १८-१९ ॥ पुरुषको किस प्रकार बुलाना चाहिये-जिस पुरुषको बुलाना हो उसका नाम लेकर बुलावे, अथवा गौत्रसे अथवा यथा-योग्य गुण, दोष विचारकर थोडा या अधिक बुलाना चाहिये ॥ २० ॥

मूल सूत्रं—पंचिंदिआण पाणाणं, एस इत्थी अयं पुमं । जाव णं न विजाणिज्जा, ताव जाइ त्ति आलवे ॥ २१ ॥ तहेव माणुसं पसुं, पक्खि वा वि, सरीसवं । थूले पमेइले वज्झे, पाइमि त्ति अ नो वए ॥ २२ ॥ परिवूढ त्ति णं बूआ, बूआ उवचिअ त्ति अ । संजाए पीणिए वावि, महाकाय त्ति आलवे ॥ २३ ॥ तहेव गाओ दुज्झाओ, दम्मा गोरहग त्ति अ । वाहिमा रहजोगि त्ति, नेवं भासिज्ज पण्णवं ॥ २४ ॥ जुवं गवि त्ति णं बूआ, धेणुं रसदय त्ति अ । रहस्से महल्लए वा वि, वए संवहणि त्ति अ ॥ २५ ॥

भावार्थ—तिर्यंचोंके संबंधमें बोलनेका विवेक—पंचेंद्रिय प्राणियोंमें 'यह स्त्री गाय है' अथवा यह पुरुष बैल है' ऐसे दूर रहेहुए तिर्यंचोंमें स्त्री—पुरुषका जहांतक निर्णय न हो वहांतक कोई कार्य प्रसंगसे उस संबंध में बोलनेकी आवश्यकता पडे तो उसकी जातिसे बुलाना, जैसे इन पशुओंके समुहसे गांवका मार्ग कितनी दूर है ? ऐसा नहीं बोलनेसे मृषावादका दोष लगता है ॥ २१ ॥ वचनका विवेक—वैसेही मनुष्य, पशु, पक्षि और सर्पादि के प्रति यह जाडा (मोटा) है, बहुत मेदवाला है अथवा मारने लायक है या पकाने लायक है, या कालको प्राप्त होनेवाला है, इस प्रकारसे बोलना नहीं क्योंकि उनको अप्रीति तथा वधादिकी शंकाहोती है ॥ २२ ॥ कारण होनेपर मोटे मनुष्यादि से यह बलवान् है अथवा उपचित शरीरवाला है तथा वैसेही यह अच्छी रीतिसे उछरा (बडा) हुआ, पुष्ट अथवा महाकाय वाला है इस प्रकारसे कहना चाहिये ॥ २३ ॥ गाय दोह लो अथवा दोहने लायक है, यह बैल दमन (आखता, बधिया) करने लायक है, भार आदि लेजाने (उठाने) लायक है अथवा रथमें जोतनेके लायक है, इस प्रकारसे बुद्धिवान् साधुको नहीं बोलना चाहिये, ऐसे बोलनेसे उसके पापके कारणीक तथा साधु—मार्गकी लघुता आदि अनेक दोष उत्पन्न होते

हैं ॥ २४ कोई कार्य पडने पर दमने लायक बैलको देखकर ऐसा कहना चाहिये, कि यह बैल युवा है, गांय दूध देनेवाली है, बोझ उठाने लायक बैलको देखकर यह बैल छोटा है अथवा मोटा है और रथके योग्य देख करके यह धोरी बैल है इत्यादि निष्पाप शब्द काम में लाने चाहिये ॥ २५ ॥

मूल सूत्रं—तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि अ। रुक्खा महल्ल पेहाए, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥ २६ ॥ अलं पासायखंभाणं, तोरणाण गिहाण अ। फलिहऽग्गलनावाणं, अलं उदगदोणिणं ॥ २७ ॥ पीढए चंगबेरे अ, नंगले मइयं सिआ। जंतलट्ठी व नाभी वा, गंडिआ व अलं सिआ ॥ २८ ॥ आसणं सयणं जाणं, हुज्जा वा किंचुवस्सए। भूओवघाइणिं भासं, नेवं भासिज्ज पण्णवं ॥ २९ ॥ तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि अ। रुक्खा महल्ल पेहाए, एवं भासिज्ज पण्णवं ॥ ३१ ॥ जाइमंता इमे रुक्खा, दीहवट्टा महालया। पयायसाला विडिमा, वए दरिसणि त्ति अ ॥ ३१ ॥

भावार्थः— वैसेही उद्यान, पर्वत अथवा वनमें जाकर, वडे २ वृक्षोंको देखकर बुद्धिमान् साधुको ऐसा कहना योग्य नहीं है कि ये वृक्ष महल बनानेके, स्थंभोंके, नगरके तोरणोंके, घर बनानेके, परिधि

के, अर्गलाके, नावके वैसेही उदक द्रोणी (छोटी नाव) के बनाने लायक हैं ॥ २६–२७ ॥ तथा ये वृक्ष पटिया केलिये, काष्ठके पात्रोंके लिये, हलके लिये, बोये हुए बीजको ढकनेके लिये, लकडीके यंत्रके लिये, नायडीके लिये और एरणके लिये काममें लानेके योग्य हैं साधुको ऐसा कहना योग्य नहीं ॥ २८ ॥ फिर कुर्सी, खाट, पलग, रथ आदि सवारियाँ अथवा किसी उपाश्रयके उपयोगी वस्तु होगी इस रीतिकी प्राणियोंका घात करनेवाली भाषा भी बुद्धिमान् साधुको नहीं बोलनी चाहिये ॥ २९ ॥ वृक्षोंके संबंधमें कैसी भाषा बोलनी चाहिये, वह बतलाते हैं.–उद्यान, पर्वत तथा वनमें अथवा वनकी तरफ जातेहुये बडे २ वृक्षोंको देखकर बुद्धिमान् साधु कारण होने पर इस प्रकार बोले कि ये वृक्ष जातिवत हैं, दीर्घ, गोल, बडे, विस्तारवाले, शाखावाले, प्रतिशाखा वाले और देखने योग्य हैं ॥ ३०–३१ ॥

मूल सूत्रं—तहा फलाइं पक्काइं, पायखज्जाइ नो वए । वेलोइयाइं टालाइं, वेहिमाइ त्ति नो वए ॥ ३२ ॥ असंथडा इमे अंबा, बहुनिव्वडिमा फला । वइज्ज बहुसंभूआ, भूअरूव त्ति वा पुणो ॥ ३३ ॥ तहेवोसहिओ पक्काओ, नीलिआओ छवीइ अ । लाइमा भज्जिमाउ त्ति, पिहुखज्ज त्ति नो वए ॥ ३४ ॥ रूढा बहुसंभूआ,

थिरा ओसढा वि अ । गब्भिआओ पसूआओ, संसाराउ त्ति आलवें ॥ ३५ ॥

भावार्थः—फलोंके संबंधमें किस प्रकार नहीं बोलना चाहिये—आम आदिके फल पके हुए हैं अथवा ये पकाकरके खाने लायक हैं ऐसा न कहना चाहिये तथा इन फलोंके अतिशय पके होनेसे ले लेनेका अवसर हुआहै, अथवा ये सब कोमलहैं अथवा दो भाग करने लायक हैं, इस प्रकार भी नहीं बोलना चाहिये ॥ ३२ ॥ फलोंके संबंधमें किस रीतिसे बोलना चाहिये—यह आमका वृक्ष अत्यन्त भार वाला होनेसे फलोंको धारणकरने में असमर्थ है। इस वृक्ष पर गुठलीवाले बहुत फल लगेहुए हैं तथा पाकके अतिशयसे बहुत फल पैदाहुये हैं। और बिना गुठलीवाले भी फल हैं, इस रीतिसे निर्दोष वचन बोलना चाहिये ॥ ३३ ॥ अनाजके संबंध में वचनकी यत्ना—वैसेही चांवल आदि औषधि तथा वाल, चोला आदि पके हैं वे लेने लायक, भूंजने लायक, और पोंख (सेक) करके खाने लायकहैं ऐसा बोलना नहीं चाहिये ॥३४॥ मार्ग दिखाने आदिका कारण पड़ने पर—यह चांवलादिका खेतहै, कुछ पकनेको आयाहै, कुछ पकगयाहै, उपघातसे निकलाहै, किसीकी फली वगैरह बाहर नहीं आई, किसी की आई हैं तथा सर्व प्रकारसे उत्पन्न हुई हैं इस प्रकार से निर्दोष भाषा

बोलनी चाहिये ॥३५॥

मूल सूत्रं—तहेव संखडिं नच्चा, किच्चं कज्जंति नो वए। तेनगं वावि वज्झित्ति, । सुतितित्थित्ति अ आवगा ॥ ३६ ॥ सखडिं सखडिं बूआ, पणिअट्ठं त्ति तेणग। बहुसमाणि तित्थाणी, आवगाणं विआगरे ॥३७॥ तहा नईओ पुण्णाओ, कायत्तिज्जत्ति नो वए। नावाहिं तारिमाउत्ति, पाणिपिज्ज त्ति नो वए ॥ ३८ ॥ बहुवाहडा अगाहा, बहुसलिलुप्पिलोदगा। बहुवित्थडोदगा आवि, एव भासिज्ज पण्णवं ॥३९॥ तहेव सावज्जं जोगं परस्सट्ठा अ निट्ठिअं। कीरमाणंति वा नच्चा, सावज्जं न लवे मुणी ॥४०॥

भावार्थ.—अलग २ वचनकी यत्ना—पितृ आदि की तृप्तिके लिये कोई जीमण करता हो तो यह करने लायकहे ऐसा नहीं कहना चाहिये तथा यह चोर मारने लायकहे यहभी कहना नहीं, वैसे ही कोई पूछे कि यह नदी सुख से उतरने लायकहे यह भी कहना नहीं, इस तरह नहीं कहनेका कारण अनुक्रम से यह है कि मिथ्यात्वमें स्थिर करनेके हेतु, लडाई, क्लेश और जंतु विशेषकी हिंसादि अनेक दोष इसतरह बोलने से पैदा होते हैं ॥३६॥ कार्य प्रसंगसे बोलनेकी ज़रूरत पड़े तो जीमणको जीमण कहना चाहिये, चोर को अपने

जीव को कष्ट में डालकर स्वार्थ साधने वाला और नदी को, नदी उतरने का रस्ता बहुत सरलहै ऐसी भाषा बोलनी चाहिये ॥३७॥ वैसेही यह नदी भरी हुयीहै, तैरी जा सके ऐसी अथवा नावसे पार उतर सके ऐसी है और किनारे रहकर प्राणियों से पानी पीया जासके वैसी है, इस रीतिसे साधुको नहीं बोलना चाहिये, क्योंकि अधिकरण--प्रवृत्ति आदि दोषों का संभवहै ॥ ३८ ॥ प्रसंगको लेकर बोलने की आवश्कता पड़ने पर प्रायःनदी भरी हुयी है, प्रायःनदी बहुत गहरी है, अन्य नदियों के प्रवाहको पीछे हटानेवाली है, वैसे ही नदीके किनारे भी भीग जाय ऐसे विस्तार वाली है, इस रीतिसे बुद्धिमान् साधु को बोलना चाहिये, स्वयं नदी से जानकार हो और अन्य कोई पूछे कि नदी में जल कितना गहराहै तो मैं नहीं जानता ऐसा साधु को नहीं कहना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार प्रत्यक्ष मृषावादका दोष तथा अप्रीति आदि दोष उत्पन्नहोते हैं, इसलिये उसको ऊपर कहे हुये प्रमाणसे उत्तर देना चाहिये ॥३९॥ वैसेही किसीसे पापवाला व्यापार पूर्वमें हुआ हो, अथवा करताहो उसको जानकर साधुको उसके संबंधमें सावद्य कराने अथवा अनुमोदने रूप कुछभी नहीं बोलना चाहिये ॥४०॥

मूल सूत्रं—सुकडि त्ति सुपक्कि त्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे। सुनिट्ठिए सुलट्ठित्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥४१॥ पयत्तपक्के त्ति व पक्कमालवे, पयत्तछिन्न त्ति व छिन्नमालवे। पयत्तलट्ठित्ति व कम्महेउअं पहारगाढ त्ति व गाढमालवे ॥४२॥ सव्वुक्कस परग्घ वा, अउलं नत्थि एरिसं। अविक्किअमवत्तव्वं, अचिअत्त चेव नो वए ॥४३॥ सव्वमेअं वइस्सामि, सव्वमेअं ति तो वए। अणुवीइ सव्वं सव्वत्थ, एवं भासिज्ज पण्णव ॥४४॥ सुक्कीअं वा सुविक्कीअ, अकिज्ज किज्जमेव वा। इमं गिण्ह इम मुंच, पणीअं नो विआगरे ॥ ४५ ॥

भावार्थः—जिस तरह से कि यह मकान आदि बहुत अच्छे बनाये हैं, सहस्र—पाक आदि तेल अच्छा पकायाहै, वन आदि अच्छी रीति से छेदे हैं, यह अच्छा हुआ कि इस नीच अथवा लोभी का धन हराया गया, यह ठीक हुआ कि यह शत्रु मृत्यु को प्राप्त हुआ, यह अच्छा हुआ कि इस अभिमानी का धन नष्ट हो गया अथवा यह कन्या बहुत सुदर है. इस प्रकार के सावद्य वचन साधु को नहीं बोलने चाहिये॥ ४१ ॥ पूर्वोक्त वचन की यत्ना—साधुको रोगी आदि के प्रयोजन होने पर, यह सहस्र—पाकादि तेल बहुत प्रयत्न से पकाया हुआहै तथा साधु को आपसमें कोई प्रयोजन लेकर कहनेकी आवश्यकता मालूम हो तो कहे कि यह

वन बहुत प्रयत्नसे छेदागयाहै तथा इस सुंदर कन्याको दीक्षा देनेमें आवे तो प्रयत्न पूर्वक उसका पालन करना पडे, तथा अमुक क्रिया कर्मबंधका हेतु करने वाली है। तथा कोई प्रयोजन आनेपर गाढ प्रहार वाले को देखकर कहे कि इसको गाढ प्रहार लगाहै. इस तरहसे यत्न पूर्वक किसीको अप्रीति आदि उत्पन्न न हो वैसे बोलना चाहिये ॥ ४२ ॥ कोई चलते हुए व्यवहारिक कार्यमें पूछनेपर अथवा विनापूछे यह वस्तु सर्वसे उत्कृष्टहै, महामूल्य वालीहै, इसके समान अन्य कोई नहीं है, वस्तु तो सुलभहै अथवा अनंत गुण-वाली है अथवा अप्रीति करने वाली है, इसरीतिसे साधुको बोलना अयोग्यहै, क्योंकि ऐसे बोलनेसे अधि-करण और अंतरायादि दोष उत्पन्न होते हैं ॥ ४३ ॥ किसीने दूसरेको कोई संदेश-कहनेके लिये कहा हो तो उसको इस तरह नहीं कहना चाहिये कि मैं यह सर्व दूसरेसे कहदूंगा, अथवा यह सर्व तुम दूसरेसे कहना यहभी नहीं बोलना चाहिये, क्योंकि सर्व व्यंजन, स्वर आदि कोई दूसरेसे नहीं कह सकता है और जो सम्पूर्ण नहीं कह सके तो मृपावादका दोप लगे, इसलिये बुद्धिमान् साधुको सर्व जगह, विचारकर बोलना चाहिये। ॥ ४४ ॥ कोई कुछ मौल लाकर साधुको दिखानेपर साधुको ऐसा कहना योग्य नहीं है कि मौलसे

अच्छा खरीदा अथवा अच्छा हुआ कि बेचडाला अथवा खरीदने लायक नहीं है या खरीदने लायक है तथा यह वस्तु ले रक्खो आगे महगी होगी अथवा बेच दो आगे सस्ती होगी, इस रीतिसे बोलनेसे अप्रीति तथा अधिकरणादि दोष लगते हैं ॥ ४५ ॥

मूल सूत्र—अप्पग्घे वा महग्घे वा, एक वा विक्कए वि वा। पणिअट्ठे समुप्पन्ने, अणवज्जं विआगरे ॥ ४६ ॥ तहेवसजय धीरो, आस एहि करेहि वा। सयं चिट्ठ वयाहित्ति, नेवं भासिज्ज पण्णवं ॥ ४७ ॥ बहवे इमे असाहू, लोए वुच्चति साहुणो। न लवे असाहुं साहुत्ति, साहु साहुत्ति आलवे ॥ ४८ ॥ नाणदंसणसंपन्नं, सजमे अ तवे रय। एवं गुणसमाउत्तं, सजयं साहुमालवे ॥ ४९ ॥ देवाणं मणुआणं च, तिरिआणं च वुग्गहे। अमुगाणं जओ होउ, मा वा होउत्ति नो वए ॥ ५० ॥

भावार्थः—इस विषयमें विशेष विधि बताते हैं—थोडे मूल्यवाली अथवा अधिक मूल्य वाली वस्तु लेने अथवा बेचनेके संबधमें कोई गृहस्थ प्रश्न करे तो उसको साधु निर्दोष उत्तर देवे कि इस वस्तुका व्यापार साधुके नहीं होनेसे इस सवधमें बोलनेका साधुको अधिकार नहीं है ॥ ४६ ॥ वैसेही धीर अथवा बुद्धिमान् साधु गृहस्थ

को इधरही रहो, आवो, यह काम करो, सोवो, बैठो अथवा जावो इत्यादि कुछभी नहीं कहना चाहिये ॥४७॥ इस संसारमें बहुतसे मनुष्य मोक्षमार्गको नहीं साधनेवाले असाधुको साधु कहते हैं परन्तु साधु, असाधुको साधु कभी न कहे । जो साधुहो उसको ही साधु कहे ॥ ४८ ॥ साधु किसको कहना चाहिये--ज्ञान, दर्शन सहितहो तथा सत्तरह प्रकारके संयम और बारह प्रकारके तपमें जो आसक्तहो, ऐसे गुणोंसे युक्त संयातिको साधु कहना चाहिये परन्तु द्रव्य--लिंगधारीको, साधुके गुण विना केवल साधुके वेपको धारण करने वाले को साधु कभी नहीं कहना चाहिये ॥ ४९ ॥ देवता, मनुष्य और तिर्यंचोंके आपसमें युद्ध होते हुए देखकर अमुककी जयहो अथवा अमुककी पराजयहो, ऐसा साधुको नहीं बोलना चाहिये, ऐसा बोलनेसे अधिकरण दोष लगताहै तथा उसके स्वामीको द्वेष उत्पन्न होताहै ॥ ५० ॥

मूल सूत्रं---वाओ वुट्ठं व सीउण्हं, खेमं धायं सिवं ति वा । कया णु हुज्ज एआणि, मा वा होउ त्ति नो वए ॥ ५१ ॥ तहेव मेहं व नहं व माणवं, न देवदेव त्ति गिरं वइज्जा । समुच्छिए उन्नए वा पओए, वइज्ज वा वुट्ठे बलाहये त्ति ॥ ५२ ॥ अंतलिक्ख त्ति णं बूआ, गुज्झाणुचरिअ त्ति अ । रिद्धिमंतं नरं दिस्स, रिद्धिमंतं त्ति आ-

लने ॥ ५३ ॥ तहेव सावज्जणुमोअणी गिरा, ओहारिणी जा य परोवघाइणी । से कोह लोह भयसा व माणवो, न हासमाणो वि गिरं वइज्जा ॥ ५४ ॥ सुवक्कसुद्धिं समुपेहिआ मुणी, गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया । मिअं अदुट्ठ अणुवीइ भासए, सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥ ५५ ॥

भावार्थ.—ग्रीष्म ऋतुमें धूप आदिसे पीडित साधुको ऐसा नहीं कहना चाहिये कि यह वायु, वर्षा, ठंड, गरमी, क्षेम (सर्व रीतिसे रक्षित), सुकाल, उपसर्ग रहित पना इत्यादि कब होंगे, अथवा पवन आदि न चले, तो यह कहनेसे अधिकरणादि दोष, तथा वायुकाय आदिके जीवोंको पीड़ा प्राप्तकी अनुमोदना होतीहै और वह भी न होनेसे आर्त्तध्यान होताहै ॥ ५१ ॥ वैसेही मेघ, आकाश, और राजादिको देखकर साधुको ऐसे वचन नहीं बोलने चाहिये, कि यह देव है । क्योंकि मेघ, आकाश और राजा देव शब्दसे संबोधित किये जा सकतेहैं परन्तु देव शब्दका अलग अर्थ होनेसे दूसरेको संदेह उत्पन्न करने केलिये यह शब्द बोलना अयोग्य है । ऊँचे मेघको देखकर, यह मेघ चढाहै, अथवा यह मेघ ऊँचाहै तथा यह वर्षा हुयी ऐसे न कहना चाहिये, वर्षा, आकाश और राजाको देव कहनेसे मिथ्यात्वपना और लघुतादि दोष उत्पन्न होतेहैं ॥ ५२ ॥ आकाशको

आश्रय कर किस रीतिसे बोलना चाहिये ? आकाशको अन्तरिक्ष तथा गुह्यानुचरित, देवताओंसे सेवित ऐसा कहना चाहिये, वैसेही ये दो शब्द वर्षाके लिये भी बोलने चाहिये, फिर ऋद्धिवाले मनुष्यको देखकर यह ऋद्धिवान् है यह कहकर बुलाना चाहिये ॥ ५३ ॥ वैसेही साधुओंको सावद्य कार्यकी अनुमोदना वाली, अवधारणवाली यह कार्य इस तरह है ऐसा तथा परका उपघात (हानि) करने वाली वाणी क्रोधसे, लोभसे, भयसे, या हास्यसेभी बोलनी नहीं चाहिये, क्योंकि ऐसी वाणी बोलनेसे बहुत कर्म बंधतेहैं ॥ ५४ ॥ इस रीतिसे मुनि उत्तम वाक्य–शुद्धिको जानकर सदोष वाणी बोले नहीं परन्तु थोड़ी और निर्दोष वाणी विचार करके बोलनी चाहिये, ऐसे बोलनेसे वह सत्पुरुषोंमें प्रशंसाको प्राप्त होताहै ॥ ५५ ॥

मूलसूत्रंः—भासाइ दोसे अ गुणे अ जाणिआ, तीसे अ दुट्ठे परिवज्जए सया । छसु संजए सामणिए सया जए, वइज्ज, बुद्धे हिअमाणुलोमिअं ॥ ५६ ॥ परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए, चउक्कसायावगए अणिस्सिए । से निद्धुणे धुन्नमलं पुरेकडं, आराहए लोगमिणं तहा परं ॥ ५७ ॥ ति बेमि ॥ इअ सुवक्कसुद्धीनामं सत्तमं अज्झयणं समत्तं ॥ ७ ॥

भावार्थ.—भाषाके दोष अथवा गुणोंको जानकर, छः जीवनिकायमें संयमवान् अथवा चारित्रमें निरंतर उद्यमवान् साधुको सदोष भाषाका हमेशा त्याग करना चाहिये और परिणाम में सुंदर तथा मनोहर भाषा बोलनी चाहिये ॥५६॥ विचार करके बोलने वाला, इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला, क्रोधादि चार कषायोंको रोकनेवाला तथा द्रव्य–भाव निश्रा रहित ऐसे महात्मा जन्मातरमें किये हुए पापमलको दूरकरके इसलोक तथा परलोकका आराधन करतेहैं, ऐसे सुधर्मास्वामी अपने जंबूनामक शिष्यसे कहतेहैं ॥५७॥

॥ इति वाक्य शुद्धि नामक सप्तम अध्ययन सम्पूर्ण ॥

॥ अह आयारपणिही अट्ठमज्झयणं ॥

मूलसूत्रं—आयारप्पणिहिं लद्धुं, जहा कायव्व भिक्खुणा। तं भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥ १ ॥ पुढवि-दग-अगणि-मारुअ, तणरुक्खस्स बीयगा। तसा अ पाणा जीव त्ति, इइ वुत्तं महेसिणा ॥ २ ॥ तेसिं अच्छणजोएण, निच्चं होअव्वयं सिआ। मणसा कायवक्केण, एव हवइ संजए ॥ ३ ॥ पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं, नेव भिंदे न संलिहे। तिविहेण करणजोएणं, संजए सुसमाहिए ॥ ४ ॥ सुद्धपुढवीं न निसीए, ससरक्खम्मि अ

आसणे। पमाजित्तु निसीइज्जा, जाइत्ता जस्स उग्गहं ॥ ५ ॥

आचार प्रणिधि नामका आठवां अध्ययन

भावार्थः—सातवें अध्ययनमें बताया गयाहै— बोलने सम्बन्धी वचनके गुण दोषोंको जानकर साधु पापरहित वचन बोले, यह निःपाप वचन आचारमें रहे हुए साधुओंका होताहै, इसलिये साधुओंको शुद्ध आचार पालनेके लिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये, यह इस अध्ययनमें कहनेमें आयगा—श्रीमान् महावीर देव अपने शिष्योंसे कहते हैं कि मैं तुमको अनुक्रमसे आचार (क्रिया) प्रणिधि बताऊँगा, उसको तुम सुनो. जिस आचार-प्रणिधिको प्राप्त करके अथवा जान करके साधुको उस प्रमाणसे बराबर क्रिया करनी चाहिये ॥ १ ॥ वह बतातेहैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तृण, वृक्ष, बीज और त्रस जो बेइन्द्रिय आदि प्राणी हैं उन सर्वमें जीवहै, ऐसा महर्षियोंने, अर्थात्—अनेक तीर्थंकरोंने कहाहै और मैंभी कहताहूं ॥ २ ॥ इस कारणसे मुनिको मन, वचन, कायासे पृथ्वी आदि जीवोंकी रक्षण करनेवाला होना चाहिये और ऐसा होनेसे ही उसमें संयत-पन (साधुपन) सम्भवहै ॥ ३ ॥ वह विशेष कर बताते हैं—निर्मल स्वभाव वाले मुनिको, शुद्ध पृथ्वी, नदी

के किनारेकी भीत, शिला और पत्थरके टुकड़े जो सचित्त हों तो उनको मन, वचन, कायासे करने, कराने अनुमोदने रूप, तीन करण और तीन योगसे भेदना तथा घिसना नहीं चाहिये ॥ ४ ॥ मुनि को सचित्त पृथ्वी पर तथा सचित्त रजसे भरे हुये आसन पर बैठना नहीं चाहिये, परंतु अचित्त पृथ्वी जानकर उसका पडिलेहण करके तथा उस भूमिके मालिकसे आज्ञा लेनेके बाद आवश्यकता हो तो वहां बैठना योग्य है ॥ ५ ॥

मूल सूत्रः—सीओदग न सेविज्जा, सिलावुट्ठ हिमाणि अ। उसिणोदगं तत्तफासुअं, पडिगाहिज्ज संजए ॥ ६ ॥ उदउल्ल अप्पणो काय, नेव पुछे न सलिये। समुप्पेह तहाभूअं, नो ण संघट्टए मुणी ॥७॥ इगाल अगणिं अर्चिं, अलाय वा सजोइअं। न उंजिज्जा न घट्टिज्जा, नो ण निव्वावए मुणी ॥८॥ तालिअटेण पत्तेण, साहाए विहुणेण वा। न वीइज्ज अप्पणो कायं, बाहिरं वा वि पुग्गल ॥ ९ ॥ तणरुक्ख न छिंदिज्जा, फल मूल च कस्सई। आमग विविह बीअ, मणसा वि ण पत्थए ॥१०॥

भावार्थः—जल लेनेकी विधि—मुनियोंको पृथ्वीमें से निकला हुआ कच्चा जल, ओलाका जल, वर्षाका जल, और बर्फका जल पीना योग्य नहीं है परतु गरम जल तथा तपनेके बाद अचित्त किया हुआ जल लेने योग्य

है ॥ ६ ॥ नदी उतरनेके बाद अथवा गोचरी आदि प्रसंगसे बाहर जाते हुये मार्गमें वर्षा होनेसे भीगेहुये स्व शरीरको कपडा आदिसे पूंछना नहीं, वैसेही हाथ आदिसे निचौना, सुखाना नहीं, अर्थात्–पानीसे भीगे हुये शरीरको देखकर जराभी (उसका) संघट्टन नहीं करना चाहिये ॥ ७ ॥ अग्नि सम्बन्धी विधि—विना ज्वालाकी अग्नि, लोहेके तपेहुये गोलेमें रहीहुयी अग्नि, छेदीहुयी ज्वाला, और अग्निका उंबाडिया (जलती लकडीका टुकडा) इत्यादि अग्नि साधुको नहीं जालना चाहिये, वैसेही संघट्टन भी नहीं करना तथा बुझाना भी नहीं ॥ ८ ॥ वायु सम्बन्धी विधि–ग्रीष्मऋतु में धूपकी गरमी देखकर, साधुको ताड वृक्षके वींजनेसे, कमल आदिके पत्तेसे, वृक्षकी शाखासे, वैसेही अन्य पंखा आदिसे स्व शरीर पर वायु चलाना नहीं, वैसेही अन्य भोजन, जल आदि गरम पुद्गलोंको ठंडा करनेके लिये पंखा आदिका उपयोग नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥ वनस्पति सम्बन्धी विधि–साधुको तृण, वृक्ष, तथा किसी जातिके फल तथा मूलका छेदन करना नहीं, वैसेही अनेक प्रकारके कच्चे बीजोंको मनसे भी लेनेकी इच्छा करनी नहीं चाहिये ॥ १० ॥

मूल सूत्रं—गहणेसु न चिट्ठिज्जा, बीएसु हरिएसु वा। उदगम्मि तहा निच्चं, उत्तिंगपणगेसु वा ॥ ११ ॥

तसे पाणे न हिंसिज्जा, वाया अदुव कम्मुणा। उवरओ सव्वभूएसु, पासेज्ज विविहं जगं ॥१२॥ अट्ठ सुहुमाइ पेहाए, जाइ जाणित्तु संजए। दयाहिगारी भूएसु, आस चिट्ठ सएहि वा ॥ १३ ॥ कयराइं अट्ठ सुहुं-माइ, जाइं पुच्छिज्ज सजए। इमाइ ताइ मेहावी, आइक्खिज्ज विअक्खणो ॥१४॥ सिणेह पुप्फसुहुमं च, पाणुत्तिंग तहेव य। पणगं बीअ हरिअ च अडसुहुम च अट्ठम ॥१५॥

भावार्थ.—जहांखड़ा रहनेसे वनस्पतिका संघट्टन हो, ऐसे वनमें, निकुंजमें, झाड़ीमें खडा नहीं रहना चाहिये, वैसेही बीज, हरित, उदग, उर्त्तिंग और सेवाल (लीलन फूलन)पर खडा नहीं रहना चाहिये ॥ ११ ॥ त्रसकायकी विधि—साधु मन, वचन, कायासे त्रसप्राणियोंकी हिंसाकरे नहीं परतु सर्व प्राणियोंकी हिंसासे निवृत्त होकर निर्वेदके लिये (बन्धसे छूटनेके लिये) विविध प्रकारके कर्मोंसे पराधीनहुये जगतके जीवोंके सवधमें विचार करना चाहिये ॥१२॥ सूक्ष्मजीवोंकी विधि—साधुको आठप्रकारके सूक्ष्मजीवोंको जानना चाहिये, इन आठ जातिके सूक्ष्मजीवोंको जाननेसे साधु जीवदयाका अधिकारी होताहै, ऐसा होनेसे सूक्ष्म जीवोंको देखकर उप-योग—पूर्वक बैठने, खड़ारहने और सोने आदिके कार्य निर्दोष रीतिसे कियेजाते हैं ॥ १३ ॥ शिष्य प्रश्न करता है-

हे भगवन् ! वे आठप्रकारके सूक्ष्मजीव कौनसे हैं जिनकी दयाके अधिकारी होनेके लिये साधु गुरुसे प्रश्नकरे. गुरु उत्तर देते हैं– हे शिष्य ! जो आगे कहनेमें आयेंगे उन आठ प्रकारके सूक्ष्मको बुद्धिमान्, विचक्षण गुरुको शिष्यसे कहना योग्यहै ॥१४॥ आठ प्रकारके सूक्ष्म कहते हैं–१ स्नेह सूक्ष्म, २ पुष्प सूक्ष्म, ३ प्राणी सूक्ष्म, ४ उत्तिंग, ५ सेवाल, ६ बीज, ७ हरित, ८ अंड सूक्ष्म. ये आठ प्रकारके सूक्ष्महैं। ओस (झाकल) हिम, धूंसर, करा, हरित, वगैरह स्नेह सूक्ष्म कहलाते हैं ।१। बड़ और उंमरआदिके पुष्प, पुष्प सूक्ष्म कहलाते हैं ।२। कुथुंवा आदि जब चलतेहों तब दिखाई देते हैं परंतु स्थिर रहेहों तब देख नहीं सकते हैं, वे प्राणी सूक्ष्म कहलाते हैं ।३। कीड़ी नगरेमें रही हुई कीडियां तथा अन्यभी सूक्ष्म जीव होते हैं, वे उत्तिंग सूक्ष्म कहलाते हैं ।४। वर्षाऋतुमें जो पांच प्रकारकी लील–फूल लकड़ी तथा जमीन आदिके उपर होतीहै, वह पनक सूक्ष्म अथवा सेवाल सूक्ष्म कहीजाती है ।५। चांवल आदिके मुखके मूलमें जो कनिका होती है उसको बीज सूक्ष्म कहते हैं ।६। नया पैदा हुआ और पृथवीके समान वर्णवाला पदार्थ हरित सूक्ष्म कहा जाताहै । ७ । तथा मक्खी, गृहकोकिला, ब्राह्मणी, कृकलाश आदिके अंडोंको अंड सूक्ष्म कहते हैं ८ ॥१५॥

मूल सूत्रं—एवमेआणि जाणित्ता, सव्वभावेण संजए। अप्पमत्तो जए निच्चं, सव्विंदिअसमाहिए ॥१६॥ धुवं च पडिलेहिज्जा, जोगसा पायकंबल। सिज्जमुच्चारभूमिं च, संथारं अदुवाऽऽसणं ॥ १७ ॥ उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाणजल्लिअं। फासुअं। पडिलेहित्ता, परिट्ठाविज्ज संजए ॥ १८ ॥ पविसित्तु परागारं, पाणट्ठा भोअणस्स वा। जय चिट्ठे मिअं भासे, न य रूवेसु मण करे ॥ १९ ॥ बहुसुणेहिं कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पिच्छइ। न य दिट्ठं सुअं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥ २० ॥

भावार्थः—पांच इन्द्रियोंके विषयमें राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति करनेवाले मुनि इन पूर्वोक्त आठ प्रकारके सूक्ष्म जीवोंको जानकर, अप्रमादी होकर, शक्ति अनुसार उसका रक्षण करनेके लिये प्रयत्न करें ॥ १६ ॥ अपनी शक्ति होते हुयेभी, जो समय पडिलेहणादि करने का हो उस समय, पात्र, कंबल, उपाश्रय, स्थंडिल की भूमि, संथारा और आसनका पडिलेहण करना चाहिये ॥ १७ ॥ साधु जीव रहित भूमिको पडिलेहण कर विष्टा, मात्रा, कफ और नासिकाके मैलको परठवे (त्याग करे) ॥ १८ ॥ गृहस्थके घर पानी अथवा गोचरी के लिये प्रवेश करने वाले साधुको वहां यत्नापूर्वक खड़ा रहना चाहिये, तथा यत्नापूर्वक बोलना चाहिये तथा रूपके

विषयमें जरासाभी आसक्तिवाला मन नहीं करना चाहिये ॥ १९ ॥ गौचरी आदि कार्योंके लिये गये हुये साधुने कानसे अधिक सुना हो या आंखोंसे अधिक देखा हो तोभी स्व—पर अहित कारी, देखाहुआ, अथवा सुना हुवा अन्यसे कहना योग्य नहीं है ॥ २० ॥

मूल सूत्रं—सुअं वा जइ वा दिट्ठं, न लविज्जोवघाइअं । न य केणइ उवाएणं, गिहिजोगं समायरे ॥ २१ ॥ निट्ठाणं रसनिज्जूढं, भद्दगं पावगंति वा । पुट्ठो वावि अपुट्ठो वा, लाभालाभं न निद्दिसे ॥ २२ ॥ न य भोअणम्मि गिद्धो, चरे उंछं अयंपिरो । अफासुअं न भुंजिज्जा, कीअ-मुद्देसि-आहडं ॥ २३ ॥ सन्निहिं च न कुव्विज्जा, अणुमायंऽपि संजए । मुहाजीवी असंबद्धे, हविज्ज जगनिस्सिए ॥ २४ ॥ लूहवित्ती सुसंतुट्ठे, अप्पिच्छे सुहरे सिआ । आसुरत्तं न गच्छिज्जा, सुच्चा णं ज़िणसासणं ॥ २५ ॥

भावार्थ—साधु को सुना हुआ अथवा देखा हुआ, परको उपघात करने वाला कष्टकारक वचन नहीं बोलना चाहिये, वैसेही किसी प्रकारका गृहस्थके लायक कार्यभी नहीं करना चाहिये ॥ २१ ॥ किसी के पूछने पर, अथवा विना पूछे यह रसवाला आहार बहुत सुंदरहै और यह विना रसवाला आहार बहुत खराबहै,

ऐसा साधुको नहीं कहना चाहिये तथा गौचरी आदिका लाभहोनेपर "यह नगर अच्छाहै अथवा खराबहै इत्यादि कुछभी नहीं कहना चाहिये ॥ २२ ॥ मुनियोंको भोजनमें आसक्त होकर धनवान् पुरुषोंके घर जाना योग्य नहींहै परंतु मौनपना धारण करके धर्मलाभ मात्र बोलते हुये जानते और अजानते धनिकों के, वैसेही गरीबोंके, घर गौचरी जाना योग्यहै, वहां से कदाचित् अजानपने, सचित्त वस्तु आगयी हो, तो वह खानी नहीं चाहिये, वैसेही विक्रीसे लायाहुआ, साधुके लिये बनाया हुआ, और सन्मुख लायाहुआभी आहार नहीं लेना चाहिये ॥२३॥ साधुको थोड़ासाभी आहार रात्रिमें वासी रखना योग्यनहींहै, परतु सावद्य व्यापारको त्यागने वाले मुनिको गृहस्थों के साथ अति परिचय नहीं करतेहुए जगतके जीवों की रक्षा करने वाला होना चाहिये ॥ २४ ॥ लुक्ष वृत्ति वाला, सतोषी, अल्प इच्छा वाला, और अल्प आहार वाला होना चाहिये तथा क्रोधके विपाकको कहने वाले वीतरागके वचनको सुनकर क्रोध कभी नहीं करना चाहिये ॥२५॥

मूल सूत्र—कण्णसुक्खेहिं सद्देहिं, पेम्मं नाभिनिवेसए। दारुण कक्कसं फासं, काएण अहिआसए ॥ २६ ॥ खुहं पिवासं दुस्सिज्जं, सीउण्हं अरइं भय। अहिआसे अव्वहिओ, देहदुक्खं महाफलं ॥ २७ ॥ अर्थ

गयम्मि आइच्चे, पुरत्था अ अणुग्गए। आहारमाइअं सव्वं, मणसा वि ण पत्थए ॥ २८ ॥ अतिंतिणे अचवले, अप्पभासी मिआसणे। हविज्ज उअरे दंते, थोवं लद्धुं न खिंसए ॥ २९ ॥ न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे। सुअलाभे न मज्जिज्जा, जच्चा तवस्सि बुद्धिए ॥ ३० ॥

भावार्थः—कानोंको सुखकारी, वीणादिके शब्दोंको सुनकर उनमें राग नहीं करना चाहिये वैसेही दारुण और कर्कश स्पर्शों को कायासे सहन करना चाहिये ॥ २६ ॥ मुनिको क्षुधा, तृषा, विषमभूमि, ठंड, गरमी, अरति (अप्रीति), भय आदि दीनता बिना सहन करना चाहिये क्योंकि देहमें उत्पन्न हुये दुःखको अच्छी तरह सहन करनेसे महा फल होताहै ॥ २७ ॥ सूर्यास्तके बादसे प्रातःकालमें सूर्योदयहो तब तक आहारादि को मनसे भी खानेकी इच्छा नहीं करना चाहिये ॥ २८ ॥ साधुको यदि किसी दिन आहार नहीं मिले तोभी उसको न बोलने वाला, स्थिर, अल्पभाषी, मित आहारी और उतनेही आहारसे निर्वाह करने वाला होना चाहिये, तथा थोड़ा आहार मिलने पर दातारकी निंदा नहीं करनी चाहिये ॥ २९ ॥ मुनिको किसीका पराभव नहीं करना चाहिये, अपना उत्कर्षभी नहीं करना चाहिये तथा श्रुत, लाभ, जाति, तप और बुद्धि का

मद भी नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥

मूल सूत्रं—से जाणमजाणं वा, कट्टु आहम्मिअं पयं। संवरे खिप्पमप्पाणं, बीअं तं न समायरे ॥ ३१ ॥ अणायार परक्कम्म, नेव गूहे न निण्हवे। सुई सया वियडभावे, असंसत्ते जिइंदिए ॥ ३२ ॥ अमोहं वयणं कुज्जा, आयरिअस्स महप्पणो। त परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए ॥ ३३ ॥ अधुवं जीविअं नच्चा सिद्धिमग्गं विआणिआ। विणिअट्टिज्ज भोगेसु, आउं परिमिअमप्पणो ॥ ३४ ॥ बलं थामं च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो। खित्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाण निजुंजए ॥ ३५ ॥ जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ। जाविंदिआ न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥ ३६ ॥

भावार्थः—मुनिने राग–द्वेप से जानते अथवा अजानते हुये जो मूल गुणकी और उत्तर गुणकी विराधनाकी हो तो उसको शुद्धभावसे तत्काल निवृत कर आलोयणा आदि ग्रहण करना चाहिये और दूसरी वार वैसा काम नहीं करना चाहिये ॥३१॥ निरंतर पवित्र बुद्धिवाला, प्रकट भाव वाला, अप्रति बद्ध और जितेन्द्रिय मुनिको कर्मके उदयसे अनाचारका सेवन कर गुरुके पास आलोचना करते हुये, उसको नहीं छुपाना चाहिये,

वैसेही सर्वथा अपलाप (पापको बिलकुल छिपा लेना) भी नहीं करना चाहिये और न किया ऐसाँभी नहीं कहना चाहिये ॥३२॥ मुनिको महात्मा, आचार्यका वचन सत्य करना चाहिये, अर्थात्—आचार्यकी आज्ञाको वचनसे अंगीकार करके, क्रियाकरके उस कामको शीघ्र करदेना चाहिये ॥३३॥ जीवितव्यको अनित्य जानकर अपने आयुष्यको परिमित समझकर और ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूपी—मोक्ष मार्गको निरंतर सुखरूप विचारकर मुनिको कर्म—बंधके हेतु भूत विषयोंसे पीछे हटना चाहिये ॥३४॥ मुनिको मनसंबंधी बल, शरीर—संबंधी शक्ति, श्रद्धा और निरोगीपना देख कर तथा क्षेत्र और कालको जानकर उस प्रकारसे अपनी आत्माको धर्म कार्यमें लगाना चाहिये, जहांतक वृद्धावस्था पीड़ा नहीं करे, जहां तक व्याधि वृद्धिको प्राप्त नहीं होवे और जहां तक इन्द्रियों का बल नहीं घटे, तहां तक उससे पहले ही धर्म कार्य करलेना चाहिये ॥ ३५—३६ ॥

मूल सूत्रं—कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं । वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हिअमप्पणो ॥३७॥ कोहो पीइं पणासेइ, मणो विणयनासणो । माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥ ३८ ॥ उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे । मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥ ३९ ॥ कोहो अ माणो अ अणि-

ग्गहीआ, माया अ लोभो अ पवड्ढमाणा। चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥ ४० ॥

भावार्थः—आत्माके हितकी इच्छा करने वाले पुरुषोंको क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कपायोंको पापके वढाने वाले दोप जानकर इनका सर्वथा त्याग करना चाहिये ॥३७॥ क्रोध प्रीतिका नाश करताहै, मान विनयका नाश करताहै, माया मित्रताका नाश करती है और लोभ सर्व वस्तुओंका नाश करने वालाहै ॥३८॥ क्षमारूप उपशमसे क्रोध हटावे, मृदुता (कोमलता) से मानको जीते, अशठमन (सरलता) से मायाको जीते और संतोप करके, मुनिको लोभ जीतना चाहिये ॥३९॥ निग्रह नहीं किये हुये क्रोध और मान, तथा वृद्धिको प्राप्त माया और लोभ, ये चारों सम्पूर्ण कपाय, वारम्वार पुनर्जन्म करने रूप वृक्षके मूलको सींचते हैं ॥४०॥

मूल सूत्र—रायणिएसु विणय पउंजे, धुवसीलयं सययं न हावइज्जा। कुम्मुव्व अल्लीणपलीणगुत्तो, परक्कमिज्जा तवसंजमम्मि ॥ ४१ ॥ निद्द च न बहु मन्निज्जा, सप्पहासं विवज्जए। मिहो कहाहिं न रमे, सज्झायम्मि रओ सया ॥ ४२ ॥ जोग च समणधम्मम्मि, जुजे अनलसो धुवं। जुत्तो अ समणधम्मम्मि, अट्ठं

लहइ अणुत्तरं ॥ ४३ ॥ इहलोगपारत्तहिअं, जेणं गच्छइ सुग्गइं । वहुस्सुअं पज्जुवासिज्जा, पुच्छिज्जत्थविणिच्छअं ॥ ४४ ॥ हत्थं पायं च कायं च, पणिहाय जिइंदिए । अल्लीणगुत्तो निसिए, सगासे गुरुणो मुणी ॥ ४५ ॥

भावार्थः—कषायका निग्रह करनेके लिये उपाय वतलातेहैं—अपनेसे दीक्षामें वड़ाहो उसका अभ्युत्थानादि (आतेहुये देखकर खड़ा होना इत्यादि) विनय करना चाहिये, अट्ठारह हजार शीलांगरथ रूप भुत्र शीलको शक्ति के अनुसार निरंतर पालन करना चाहिये तथा कछुयेकी तरह अपने अंगोपांगको छिपाकर तप और संयम में प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥ ४१ ॥ मुनिको निद्राके वशीभूत नहीं होना चाहिये वैसेही किसीकी हँसीभी नहीं करनी चाहिये और वहुत हँसना भी नहीं तथा आपसमें विकथादि नहीं करना, परंतु निरंतर स्वाध्याय, ध्यान में आसक्त रहना चाहिये ॥ ४२ ॥ मुनि आलस्य छोड़कर अपने मन वचन कायाके योगोंको, श्रमण धर्म में लगावे क्योंकि दस प्रकारके श्रमणधर्ममें रहे हुये साधु अनुत्तर अर्थ (केवलज्ञान) को प्राप्त होतेहैं ॥४३॥ जिससे इसलोक ,तथा परलोकका हित होताहे तथा श्रेष्ठगतिमें जाते हें, ऐसे ज्ञानादिके लिये मुनिको वहुश्रुत आगमके जानकार आचार्य महाराज की सेवा करना चाहिये, और सेवा करनेके वाद अपना कल्याण हो,

ऐसे अर्थका निर्णय पूछना चाहिये ॥४४॥ गुरुके पास किस रीतिसे बैठना चाहिये ? जितेन्द्रिय होकर, हाथ, पेर और शरीरका सयम कर उपयोग–पूर्वक साधुको गुरुके पास बैठना चाहिये ॥ ४५ ॥

मूल सूत्रं—न पक्खओ न पुरओ, नेव किचाण पिट्ठओ। न य उरुं समासिज्जा, चिट्ठिज्जा गुरुणतिए ॥४६॥ अपुच्छिओ न भासिज्जा, भासमाणस्स अतरा। पिट्ठिमसं न खाइज्जा, मायामोसं विवज्जए ॥ ४७ ॥ अप्पत्तिअं जेण सिआ, आसु कुप्पिज्ज वा परो। सव्वसो त न भासिज्जा, भास अहिअगामिणिं ॥ ४८ ॥ दिट्ठं मिअं असदिद्धं, पडिपुन्न विअ जिअ। अयपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥ ४९ ॥ आयारपन्नत्तिधरं, दिट्ठि-वायमहिज्जग। वायविक्खलिअं नच्चा, न तं उवहसे मुणी ॥ ५० ॥

भावार्थः—आचार्यके बाजूपर, मुंहके सामने, तथा पीछे नहीं बैठना चाहिये वैसेही गुरुके पास पेरपर पेर चढ़ाकरभी नहीं बैठना चाहिये ॥ ४६ ॥ वाणीका संयम कहतेहैं–गुरुके पूछे विना नहीं बोलना चाहिये तथा गुरु बोलतेहों तो उनके बीचमेंभी नहीं बोलना चाहिये, वैसेही गुरुके पीछे उनके दोषभी नहीं कहना चाहिये और माया मृषावादका त्याग करना चाहिये ॥ ४७ ॥ जिस भाषाके बोलनेसे अन्यको अप्रीति उत्पन्नहो

तथा शीघ्रही दूसरेको क्रोध पैदाहो वैसेही दोनों लोकमें विरुद्ध ऐसी भाषा मुनिको कभीभी नहीं बोलना चाहिये ॥४८॥ आत्मवान् मुनिको दृष्टार्थ विषय (स्वयं देखेहुये पदार्थोंके सम्बन्ध) में मित, शंका रहित, परिपूर्ण, प्रकट परिचय वाली, अत्यंत ऊँची वैसेही अत्यंत नीची नहीं, और उद्वेगको नहीं कराने वाली, इस-तरहकी भाषा बोलना चाहिये ॥ ४९ ॥ आचार तथा प्रज्ञप्तिको धारण करने वाले और दृष्टिवादके पढने-वाले ऐसे मुनिभी कदाचित् प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम और वचनादि बोलनेमें स्खलना पाजावें तोभी उनकी हँसी नहीं करनी चाहिये ॥ ५० ॥

मूल सूत्रं—नक्खत्तं सुमिणं जोगं, निमित्तं मंतभेसजं । गिहिणो तं न आइक्खे, भूआहिगरणं पयं ॥ ५१ ॥ अन्नट्ठं पगडं लयणं, भइज्ज सयणासणं । उच्चारभूमिसंपन्नं, इत्थीपसुविवज्जिअं ॥ ५२ ॥ विवित्ता अ भवे सिज्जा, नारीणं न लवे कहं । गिहिसंथवं न कुज्जा, कुज्जा साहुहिं संथवं ॥ ५३ ॥ जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्चं कुललओ भयं । एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं ॥ ५४ ॥ चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअ-लंकिअं । भक्खरंपिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥ ५५ ॥

भावार्थ—मुनिको, नक्षत्र, स्वप्न, वशीकरण आदि योग, निमित्त मंत्र और औषधि इत्यादि गृहस्थियोंसे नहीं कहना चाहिये क्योंकि ऐसा कहनेसे एकेन्द्रियादि जीवोंकी विराधनाका कारण होताहै परन्तु गृहस्थियों की अप्रीति दूर करनेके लिये ऐसा कहना चाहिये कि इन कार्योंमें बोलनेका मुनियोंको अधिकार,नहीं ॥५१॥ साधुओंको कैसे उपाश्रयमें रहना चाहिये ? अन्यके लिये बनाए हुए, स्थंडिल-शौचादि मात्राकी जगहसे युक्त, और स्त्री, पशु आदि रहितहो वैसे स्थान पर मुनिको रहना चाहिये तथा संथारा वैसेही पाटे आदिभी अन्यके लिये बनाये हुये हों तो वे वापरने योग्यहैं ॥५२॥ अन्य मुनि आदिसे रहित जो उपाश्रयहो तो साधुको स्त्रियोंसे धर्म-कथा नहीं कहना चाहिये, शंकादि दोषोंका संभवहै, वैसेही गृहस्थियों का परिचय मुनियोंको नहीं करना चाहिये, परतु मुनियोंके साथ परिचय करना चाहिये ॥५३॥ जैसे मुर्गीके बच्चोंको हमेशा बिल्लीसे भय रहताहै, उसी रीतिसे ब्रह्मचारियों को स्त्रीके शरीरसे भयहै। इस लिये स्त्रियों का परिचय मुनिको नहीं करना चाहिये ॥ ५४ ॥ चित्रमें चित्रित स्त्री मुनिको नहीं देखनी चाहिये, वैसेही अलंकारयुक्त और अलंकार रहित सचेतन स्त्रीको भी देखना नहीं, कदाचित् देखनेमें आजावे तो जिस तरह सूर्यको देखकर

वापिस दृष्टि हटालेतेहैं, वैसेही स्त्री को देखकर अपनी दृष्टि हटालेनी चाहिये ॥ ५५ ॥

मूल सूत्रं— हत्थपायपडिच्छिन्नं, कन्ननासविगप्पिअं । अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥ ५६ ॥ विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीअं रसभोअणं । नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥ ५७॥ अंगपच्चंगसंठाणं। चारुल्लविअपेहिअं । इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥ ५८ ॥ विसएसु मणुण्णेसु, पेमं नाभिनिवेसए। अणिच्चं तोसिं विण्णाय, परिणामं पुग्गलाण उ ॥ ५९ ॥ पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं नच्चा जहा तहा । विणीअतिण्हो विहरे सीईभूएण अप्पणा ॥ ६० ॥

भावार्थः—ब्रह्मचारीको हाथ, पैर छेदीहुयी, तथा नाक, कान कटीहुयी, वहभी सौ वर्षकी बुढियाहो तोभी वैसी स्त्रीके साथ परिचय नहीं करना चाहिये, तो युवा स्त्रीके परिचय की तो बातही क्या कहना ॥५६॥ आत्मकल्याण के अर्थी पुरुषको विभूषा (वस्त्रादिसे शरीरकी शोभा), स्त्रियोंका संसर्ग और घृत, दुग्धादिसे स्निग्ध भोजन, ये तालपुट (हलाहल) विषके समानहैं, जैसे तालपुट विषसे मनुष्य तत्काल मृत्युको प्राप्त होताहै वैसेही पूर्वोक्त संसर्गसे मनुष्यके ब्रह्मचर्यका तत्काल नाश होताहै ॥ ५७ ॥ स्त्रियोंके अंग और प्रत्यंगकी (उपांगकी)

आकृतिको, तथा सुन्दर, मधुर भाषणको और उनके मनोहर दृष्टिकी ओर देखना नहीं चाहिये, ऐसा करनेसे विषयाभिलापकी वृद्धि होती है ॥ ५८ ॥ शब्दादिके रूपमें परिणमे हुए पुद्गलोंके परिणामको अनित्य जानकार मनोज्ञ विषयोंमें राग नहीं करना चाहिये, वैसेही अमनोहर पुद्गलोंके विषयोंमें द्वेषभी नहीं करना चाहिये क्योंकि जो मनोज्ञ पुद्गलहैं वेही कारण पाकर थोडे समयमें अमनोज्ञ होजातेहैं और जो अमनोज्ञहैं वे कारणांतर से थोडेही समयमें मनोहर होजाते हैं ॥ ५९ ॥ मनोज्ञ पुद्गलतो अमनोज्ञ होजातेहैं और अमनोज्ञ पुद्गल मनोज्ञ होजातेहैं, इस रीतिके पुद्गलके परिणमन स्वभावको जानकार उन पुद्गलके उपभोगमें तृष्णा रहित होकर तथा क्रोधादिके अभावसे शीतल होकर विचरना चाहिये ॥ ६० ॥

मूल सूत्रं—जाइ सद्धाइ निक्खंतो, परिआयट्ठाणमुत्तमं । तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरिअसंमए ॥ ६१ ॥ तव चिमं सजमजोगयं च, सज्झायजोगं च सया अहिट्ठए । सूरे व सेणाइ समत्तमाउहे, अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ॥ ६२ ॥ सज्झाय-सज्झाणरयस्स ताइणो, अपावभावस्स तवे रयस्स । विसुज्झई जंसि मलं पुरेकडं, समीरिअ रुप्पमलं व जोइणा ॥ ६३ ॥ से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए, सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे ।

विरायई कम्मघणंमि अवगए, कसिणब्भपुडावगमे व चंदिम ॥ ६४ ॥ त्ति वेमि ॥ इअ आयारपणिही णामं अट्ठममज्झयणं समत्तं ॥ ८ ॥

भावार्थः—जो श्रद्धा–पूर्वक गृहस्थाश्रमसे निकल कर, प्रवज्या रूप उत्तम स्थानको प्राप्त हुआ है, उस आचार्यको वहु संमत्त, मूल गुणरूप श्रद्धाको प्रवर्धमान (चढ़ते) परिणामसे पालन करना चाहिये ॥ ६१ ॥ वारह प्रकारकी तपस्या, छः कायाकी रक्षारूप संमय योग, और वाचना आदि सज्झाय योगमें निरंतर रहा हुआ साधु, जेसे–चतुरंगीसेना से घिरा हुआ शूरवीर पुरुष हथियारोंकी सहायतासे मुक्त होताहै, वैसेही कषायरूपी सेनासे रूकेहुये होने परभी, पूर्वोक्त तपस्यादि हथियारोंसे इन्द्रिय–विषय–कषायादि कर्म–शत्रु-सेनासे अपने आपको छुड़ानेमें समर्थवान् होताहै ॥ ६२ ॥ स्वाध्यायरूप शुभ ध्यानमें आसक्त, स्व-परको तारने वाले, शुद्ध परिणाम वाले, और तपस्यामें लीन ऐसा मुनि, पूर्वमें किये हुये पापोंसे जैसे अग्निमें तपाये हुये रुपयेका मैल शुद्धहो जाताहै, वैसेही शुद्ध होजाता है ॥ ६३ ॥ पूर्वमें कहे हुये गुणोंसे युक्त, परिषहोंको जीतने वाले, जितेन्द्रिय, श्रुतज्ञान सहित, ममत्व रहित और स्वर्णादि परिग्रह रहित, जैसे सब बादलोंके दूर

हटने परही चन्द्रमा शोभित होताहै। वैसेही मुनि भी कर्मरूपी सब बादलोंके हट जानेपरही केवल ज्ञानरूपी चन्द्रमासे शोभित होताहै, अर्थात्–कर्म क्षय करके केवल ज्ञानको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

॥ इति आचार प्रणिधि नामक अष्टम अध्ययन सम्पूर्ण ॥

॥ अह विणयसमाही णामा नवमज्झयणं ॥

मूलसूत्रं—थभा व कोहा व मयप्पमाया, गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे। सो चेव उ तस्स अभूइभावो, फलं व कीअस्स वहाय होइ ॥ १ ॥ जे आवि मंदित्ति गुरुं विइत्ता, डहरे इमे अप्पसुअत्ति नच्चा। हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा, करंति आसायण ते गुरूणं ॥ २ ॥ पगईए मंदा वि भवंति एगे, डहरा वि अ जे सुअबुद्धोववेआ। आयारमंतो गुणसुट्ठिअप्पा, जे हीलिया सिहिरिव भास कुज्जा ॥ ३ ॥ जे आवि नागं डहरंति नच्चा, आसायए से अहिआय होइ। एवायरिअं पि हु हीलयंतो, निअच्छई जाइपहं खु मंदो (द) ॥ ४ ॥ आसीविसो वावि परं सुरुट्ठो, किं जीवनासाउ परं नु कुज्जा। आयरिअपाया पुण अप्पसन्ना, अबोहिआसायण नत्थि मुक्खो ॥ ५ ॥

॥ अब विनय समाधि नामक नवम अध्ययन कहते हैं ॥

भावार्थः—पिछले आठवें अध्ययनमें ऐसा कहनेमें आयाहे कि आचारमें (क्रियामें) रहे हुये मुनिके वचन पाप रहित (निर्दोष) होते हैं इसलिये आचारमें यत्नवान् होना चाहिये, इस आचारमें रहेहुये मुनि विनयवान् होतेहैं, इस पूर्वोक्त सम्बंधसे प्राप्त हुये इस नवम अध्ययनमें विनयका स्वरूप कहनेमें आयेगा. जो शिष्य मानसे, क्रोधसे या मायासे, प्रमादसे गुरुके पास विनय नहीं सीखताहे, उस शिष्यको यह मानादि प्रमाद (जैसे वांसके फल आनेसे वांसका नाश होताहे वैसेही), ज्ञानादि भाव-प्राण (आत्मिक गुण) का नाश करनेवाला होताहे ॥ १ ॥ जो कोई साधु अपने गुरुको मंद बुद्धिवाला जानकर, वैसेही छोटी उम्र वाला और अल्पसूत्र (कमपढा) जानकर मिथ्यात्वको अंगीकार करके उस गुरुकी हीलना करताहे, वह निश्चय करके गुरुकी महान् आशातना करताहे. गुरुकी आशातना करना घोर पापहे, इस कारणसे गुरुकी हीलना नहीं करनी चाहिये ॥ २ ॥ मुनिको अपने गुरुकी हीलना नहीं करके उसके सम्बंधमें यह विचार करना चाहिये—अहो! कई मुनि उम्रमें वृद्ध होते हैं परन्तु कर्मकी विचित्रतासे बुद्धिमें स्वभावसे ही मंद होतेहैं और कई

शिष्य उम्रमें छोटे होतेहैं परन्तु शुद्ध बुद्धि वाले, ज्ञानादि आचार वाले और गुणाधिष्ठित आत्मा वाले होते हैं, यह निश्चय कर्म की विचित्र गतिहै, ऐसा विचार कर, शुद्ध बुद्धिवाले, ज्ञानादि आचार वाले तथा गुणाधिष्ठित आत्मावाले शिष्यको, गुरुको मंद बुद्धिवाला जानकर उसकी हीलना किसीभी समय नहीं करनी चाहिये जिसतरह अग्नि वस्तुको जलाकर नाश करती है, वैसेही गुरुकी हीलना निंदा या अवज्ञा ज्ञानादि गुणोंका नाश करती है ॥ ३ ॥ छोटी उम्रके आचार्यकी हीलना करनेसे होनेवाले दोष—जैसे कोई अज्ञान (मूर्ख) मनुष्य सर्पको छोटा जानकर लकडी आदिसे सताया करताहै, वह सताया हुआ नाग, सताने वालेको डसताहै और वह अहित (मृत्यु) को प्राप्त होताहै वैसेही किसी कारणसे छोटी उम्रमें आचार्य पदपर स्थापित छोटे आचार्य की हीलना करता हुआ मंद बुद्धिवाला शिष्य येइंद्रियादिमें जन्म मरणके मार्गको प्राप्त होताहै, अर्थात्—बहुत समय तक ससारमें (परिभ्रमण करने रूप) अहित (दुःख) को पाताहै ॥ ४ ॥ आचार्यकी हीलना करनेमें सर्पसेभी अधिक दोष हैं उसे बतातेहैं जिस तरह आशीविश सर्प बहुत क्रोधित होनेपर प्राण नाश करनेके सिवाय अन्य कोई दोष नहीं करताहै, परन्तु हीलना करनेसे अप्रसन्न आचार्य तो मिथ्यात्व के

कारण रूप होते हैं क्योंकि आचार्यकी हीलना आशातना करनेसे मिथ्यात्वकी प्राप्ति होती है यानी—अनेक भव-दुःख भोगने पडते हैं, जव इस तरहहै तव गुरुकी आशातना करने वालेको मुक्ति नहीं मिल सकती है ॥ ५ ॥

मूल सूत्रं—जो पावगं जलियमवक्कमिज्जा, आसीविसं वा वि हु कोवइज्जा । जो वा विसं खायइ जीविअट्ठी, एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं ॥ ६ ॥ सिआ हु से पावय नो डहिज्जा, आसीविसो वा कुविओ न भक्खे । सिआ विसं हालहलं न मारे, न आवि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥ ७ ॥ जो पव्वयं सिरसा भित्तुमिच्छे, सुत्तं व सीहं पडिवोहइज्जा । जो वा दए सत्तिअग्गे पहारं, एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं ॥ ८ ॥ सिआ हु सीसेण गिरिंपि भिंदे, सिआ हु सीहो कुविओ न भक्खे । सिआ न भिंदिज्ज व सत्तिअग्गं, न आवि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥९॥ आयरिअपाया पुण अप्पसन्ना, अवोहिआसायण नत्थि मुक्खो । तम्हा अणावाह सुहाभिकंखी, गुरुप्पसायाभि-मुहो रमिज्जा ॥ १० ॥

भावार्थः—जैसे कोई मनुष्य जीनेके लिये जलती हुई अग्निमें खडा रहे, अथवा आशीविष सर्पको क्रोधित करे अथवा जीनेके लिये जहर खाय, ये उपमाएँ (दृष्टान्त) गुरुकी आशातना करनेवालेको संभवहे, इसलिये यदि

जीनेके लिये उपरोक्त कार्य करनेमें आवें तो उनसे उल्टे मृत्युको देनेवाले होते हैं। उसी तरह गुरुकी आशातना करनेसे संसारकी वृद्धि होतीहै ॥ ६ ॥ कदाचित् मंत्रादिसे बंधी हुई अग्नि मनुष्यको नहीं जलावे, कोपायमान (क्रोधित) हुआ आशीविष सर्प नहीं काटे और कदाचित् हलाहल विष खानेसे मृत्यु नहीं हो, परन्तु गुरुकी हीलना करने वालेको मोक्ष मिलही नहीं सकती ॥ ७ ॥ जैसे कोई मनुष्य पर्वतको अपने शिरसे तोडनेकी इच्छा करे अथवा सोते हुए शेरको जगावे अथवा शक्ति (तलवार) की धारपर हाथ रखकर किसी तरहका प्रहार करे तो जिस प्रकार ऐसा करने वालेको हानि होतीहै, उसी प्रकार गुरुकी आशातना करने वालेको हानि होतीहै। इस प्रकार दोनों तरफ समान उपमा जाननी चाहिये ॥ ८ ॥ कदाचित् कोई मंत्रादिक चमत्कारिक अतिशयके बलसे मस्तकसे पर्वतको फोड डाले, मंत्रादिकके प्रभावसे कोपायमान हुआ सिंहभी भक्षण न करे, कदाचित् शक्तिसे शरीर का भी भेदन न हो, तो भी गुरुकी हीलना करनेसे मोक्ष नहीं होती ॥ ९ ॥ अग्नि आदिकी आशातना छोटीहै और गुरुकी आशातना बडीहै, वह दिखाते हैं—अप्रसन्न हुए आचार्यसे सद्बोधके अभावमें मिथ्यात्वकी प्राप्ति होतीहै। इसलिये गुरुकी आशातना करनेसे मोक्ष नहीं होती

जब ऐसे है, तब अनाबाध (पूर्णशाश्वत) सुखके अभिलाषीको जिस रीतिसे गुरु अपने ऊपर प्रसन्न रहें उस रीतिसे वर्तना चाहिये ॥ १० ॥

मूल सूत्रं—जहाहिअग्गी जलणं नमंसे, नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं । एवायरिअं उवचिट्ठइज्जा, अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥११ ॥ जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे, तस्संतिए वेणइयं पउंजे । सक्कारए सिरसा पंजलिओ कायग्गिरा भो मणसा अ निच्चं ॥ १२ ॥ लज्जा दया संजम बंभचेरं, कल्लाण भागिस्स विसोहिठाणं । जे मे गुरू सययमणुसासयंति, तेऽहं गुरू सययं पूअयामि ॥ १३ ॥ जहा निसंते तवणच्चिमाली, पभासई केवल भारहं तु । एवायरिओ सुयसीलबुद्धिए, विरायई सुरमज्झे व इंदो ॥ १४ ॥ जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो, नक्खत्त तारागणपरिवुडप्पा । खे सोहई विमले अब्भमुक्के, एवं गणी सोहई भिक्खुमज्झे ॥ १५ ॥

भावार्थः—जैसे ब्राह्मण अहिताग्नि (अग्निमें घी आदि होमने वालेके द्वारा नाना प्रकारकी आहुति और मंत्रोंसे संस्कार की हुई अग्नि) को नमस्कार करताहै, वैसेही स्वयं (स्व—पर पर्यायके विषयका जानने वाला) अनंत ज्ञानवान् होते हुये भी आचार्यकी विनयसे सेवा करे, इस तरहका गुणवान् ज्ञानी शिष्य भी जो आचार्यकी सेवा

करे तो फिर अन्य सामान्य साधु आचार्यकी सेवाकरें, उसमें तो कहनाही क्या ? ॥ ११ ॥ जिनसे धर्मके पद सीखने हों उनके साथ विनय करना चाहिये, वह विनय इस तरह करना चाहिये कि जव गुरु आवें तव खडे होकर वचनसे सत्कार करना तथा हाथ जोडकर मस्तक नमन करने रूप कायासे विनय करना, (मत्थएण वदामि) ऐसा बोलते हुये तथा भावयुक्त मनसे निरंतर विनय करना. इसी प्रकार बिना पढनेके समय भी विनय करना चाहिये ॥ १२ ॥ लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य ये चार स्थान, मोक्षके अभिलाषी साधुओं के लिये परम विशुद्धि के साधनहैं, इसके लिये मेरे गुरु महाराज मुझे निरतर इस विषयमें शिक्षा देतेहैं इसलिये मैं मेरे परम उपकारी गुरुजी महाराज की निरतर पूजा करूगा, इस प्रकार शिष्योंको हमेशा मनमें विचार करना चाहिये ॥ १३ ॥ जिस तरह रात्रिके अंतमें (रात्रि व्यतीत होनेके बाद) सूर्य संपूर्ण भरतक्षेत्र को प्रकाशित करताहै, उसीतरह आचार्य भी शुद्ध श्रुत, शील और बुद्धिसे जीवादि पदार्थोंको प्रकाशित करतेहैं और जैसे देवताओंके समूहमें इंद्र शोभित होताहै, वैसेही आचार्य भी साधुओंके समुदायमें शोभित होतेहैं, ॥ १४ ॥ जैसे–बादल रहित निर्मल आकाशमें, कार्त्तिक पूर्णिमाके योगवाला और नक्षत्र तथा ताराओंके

समूहसे घिरा हुआ चन्द्र शोभा देताहै, उसी प्रकार—साधुओंके समुदायमें रहे हुए आचार्य महाराज शोभा देतेहैं ॥ १५ ॥

मूल सूत्रं—महागरा आयरिआ महेसी, समाहिजोगे सुअ-सील-बुद्धिए । संपाविउकामे अणुत्तराइं, आराहए तोसइ धम्मकामी ॥ १६ ॥ सुच्चाण मेहावि सुभासिआइं, सुस्सूसए आयरिअप्पमत्तो । आराहइत्ताण गुणे अणेगे, से पावई सिद्धिमणुत्तरं ॥ त्ति बेमि ॥ १७ ॥ इअ विणयसमाहिज्झयणे पढमो उद्देसो समत्तो ॥ १ ॥

भावार्थः—ज्ञानादि, भाव रत्नोंकी खानके समान, समाधि योग, श्रुत, शील और बुद्धिसे मोक्ष प्राप्त करनेके इच्छुक शिष्योंको आचार्य महाराजके पाससे सर्वोत्कृष्ट ज्ञानादि गुणोंकी प्राप्तके लिये विनय करके उनकी आराधना करनी चाहिये, एकही वार विनय करना यह बात नहीं है, परन्तु कर्मकी निर्जराके लिये बारम्बार विनय करके आचार्यको प्रसन्न करना चाहिये ॥ १६ ॥ गुरुकी आराधनाके फलको बतलाने वाले सुन्दर वचनोंको सुन करके बुद्धिमान साधुको निरन्तर आचार्यकी प्रमाद रहित होकर सेवा करनी चाहिये. इस प्रकार गुरुकी सुश्रुषा करने वाला साधु ज्ञानादि अनेक गुणोंकी आराधना करके अनुक्रमसे मोक्षको

प्राप्त होता है, ऐसा मैं तुम से कहता हूँ ॥१७॥ इति विनय समाधि नामक नवम अध्ययन का प्रथम उद्देशक सम्पूर्ण ॥ ९-१ ॥

मूल सूत्र—मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाउ पच्छा समुविंति साहा । साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता, तओ सि (से) पुप्फं च फलं रसो अ ॥१॥ एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो अ से मुक्खो । जेण किर्त्ति सुअं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छइ ॥ २ ॥ जे अ चंडे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सढे । वुज्झइ से अविणीअप्पा, कट्ठ सोअ-गय जहा ॥ ३ ॥ विणयंपि जो उवाएणं, चोइओ कुप्पई नरो । दिव्वं सो सिरिमिज्जंतिं दंडेण पडिसेहए ॥ ४ ॥ तहेव अविणीअप्पा, उववज्झा हया गया । दीसंति दुहमेहंता, आभिओगमुवट्ठिआ ॥ ५ ॥

॥ विनय के अधिकार में ही दूसरा उद्देशक कहते हैं ॥

भावार्थ.—मूलसे वृक्षका स्कन्ध पैदा होताहै और स्कंधसे पीछे शाखा पैदा होती हैं, शाखासे छोटी-छोटी डालियां उत्पन्न होतीहैं, डालियोंसे पत्ते, पत्तोंसे पुष्प, फल और फलमें अनुक्रमसे रस पैदा होताहै ॥ १ ॥ इसी तरह धर्मरूपी कल्प-वृक्षका मूल विनय है, जिससे मोक्षरूपी फलके उत्तम रसकी प्राप्ति होतीहै और

जिसकी स्कंध, शाखादि देवलोकमें जाना, उत्तमकुलमें उत्पन्न होना इत्यादि जानना चाहिये इसलिये फलके लिये विनय करने की सबको पूर्ण आवश्यकताहै. जिस विनयसे साधु कीर्ति, श्रुत-ज्ञान और प्रशंसा योग्य आदि सर्व वस्तुओंको प्राप्त करताहै ॥ २ ॥ अब अविनय से होने वाले दोष बतातेहैं—तीव्र रोषवाला, हित की बात कहनेसे क्रोधित होने वाला, जात्यादिक मदवाला, अप्रिय बोलने वाला, कपटकरने वाला, शठ, संयम-योगमें अनादर करने वाला इत्यादि दोषोंसे युक्त जो साधु गुरु आदि का विनय नहीं करताहै, वह अविनीतात्मा (विनय रहित) जैसे नदी आदिके प्रवाहमें पड़ा हुआ काष्ट तणाताहै, वैसेही संसार रूपी प्रवाहमें वह तणाताहै, अर्थात्—अविनयवान् चारों गतियोंमें भ्रमण करता है ॥ ३ ॥ विनयके लिये एकान्त मीठे वचनोंसे गुरुके प्रेरणा करने परभी जो शिष्य क्रोधायमान होताहै, वह शिष्य अपने पास आती हुई दिव्य लक्ष्मीको लाठीसे पीछी भगा देताहै, तात्पर्य यहहै कि विनय सर्व सम्पदाका मूलहै, इसलिये निरन्तर उसका सेवन अवश्य करना चाहिये ॥ ४ ॥ तिर्यंचोंमें विनय, अविनयका फल बतातेहैं—सेनापति, प्रधान आदिके अविनयवान् हाथी, घोड़े आदि, दुःखोंको भोगते हुए चाकरपने को प्राप्त होतेहैं, अर्थात्—भार उठाने वाले होतेहैं ॥ ५ ॥

मूलसूत्रं—तहेव सुविणीअप्पा, उववज्झा हया गया । दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ ६ ॥ तहेव अविणीअप्पा, लोगम्मि नरनारिओ । दीसंति दुहमेहंता, छाया विगलितेंदिआ ॥ ७ ॥ दंडसत्थपरिज्जुण्णा, असब्भवयणेहि अ । कलुणा विवन्नच्छन्दा, खुप्पिवासाइपरिगया ॥ ८ ॥ तहेव सुविणीअप्पा, लोगंसि नरनारिओ । दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ ९ ॥ तहेव अविणीअप्पा, देवा जक्खा अ गुज्झगा । दीसंति दुहमेहंता, आभिओगमुवट्ठिआ ॥ १० ॥

भावार्थः—वैसेही राजा आदिके विनयवान् हाथी, घोडे आदि निरन्तर सुखको भोगते रहतेहैं तथा वे अच्छे२आभूषण, मकान और उत्तम खुराक प्राप्त करके अपने सद्गुणोंसे प्रसिद्ध होतेहैं, तिर्यंचभी विनय गुण से सुख अनुभवतेहैं, तो मनुष्य विनयसे सुख प्राप्त करें इसमें क्या कहनाहै ? इसलिये विनय करना चाहिये ॥ ६ ॥ अब इस विनय, अविनय का फल मनुष्यके सम्बन्धमें बतातेहैं—तिर्यंचोंके समान अविनयवान् मनुष्य और स्त्रियों इस लोकमें नाना प्रकारके दुःखोंको भोगतेहैं तथा चाबुक आदिके प्रहारसे निशान पडेहुये शरीर वाले और व्यभिचारादि दोषोंसे नासिकादि इन्द्रियां कटाये हुये देखनेमें आतेहैं ॥ ७ ॥ अविनयवान्

पुरुष और स्त्रियाँ डंडे (वेंत आदि), शस्त्र (खड्ग आदि) और महा कठोर वचनोंसे दुर्बल तथा करुणा जनक दृश्य वाले और पराधीन, क्षुधा, तृषासे व्यास नाना प्रकारके दुःखोंको अनुभव करतेहैं, और जिस प्रकार अविनयसे इस भवमें दुःख भोगतेहैं, उसी प्रकार परभवमेंभी महादुःख प्रास करतेहैं ॥ ८ ॥ तिर्यंचोंके समान विनयवान् पुरुष और स्त्रियाँ इसलोकमें नाना प्रकारके सुख भोगते हुये, ऋद्धिको प्रास होते हुए, यशस्वी दिखायी देतेहैं, विनय करने वालेको इसलोकमें गुरु आदिकी आराधना होतीहै और उससे परलोकभी सफल होताहै ॥ ९ ॥ देवताओंमें विनय, अविनयका फल बतातेहैं—जैसे अविनयवान् पुरुष और स्त्रियाँ, वैसेही जन्मान्तरमें विनय नहीं करने वाले ऐसे कितनेक वैमानिक, ज्योतिषी, व्यंतर और भुवनपतिके देव अन्यदेवोंकी आज्ञामें वर्तनेवाले, चाकर देवपनेमें दुःखभोगते हुए आगमसे देखनेमें आतेहैं ॥ १० ॥

मूल सूत्रं—तहेव सुविणीअप्पा, देवा जक्खा अ गुज्झगा । दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिं पत्ता महायसा ॥११॥ जे आयरिअ-उवज्झायाणं, सुस्सूसा-वयणं करा । तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा ॥ १२ ॥ अप्पणट्ठा परट्ठा वा, सिप्पा णेउणिआणि अ । गिहिणो उवभोगट्ठा, इहलोगस्स कारणा ॥ १३ ॥ जेणं बंधं

वहं घोर, परिआवं च दारुणं । सिक्खमाणा निअच्छंति, जुत्ता ते ललिइंदिआ ॥ १४ ॥ तेऽवि तं गुरुं पूअंति तस्स सिप्पस्स कारणा । सक्कारंति नमंसंति, तुट्ठा निद्देसवत्तिणो ॥ १५ ॥ किं पुणं जे सुअग्गाही, अणंतहिअकामए । आयरिआ जं वए भिक्खू, तम्हा त नाइवत्तए ॥ १६ ॥

भावार्थः—वैसेही जन्मांतर में विनय करने वाले, निरतिचार धर्म पालने वाले, चारप्रकार के देवता नाना प्रकारकी देव ऋद्धिको प्राप्त और अपने गुणोंसे प्रख्यात, सुख भोगते हुये आगमों में दिखाई देते हैं ॥ ११ ॥ विशेष प्रकारसे लोकोत्तर विनय का फल बतातेहैं— जो शिष्य आचार्य तथा उपाध्याय की सेवा करने वाले तथा आज्ञामें चलने वाले होतेहैं, उनकी (जैसे पानी सींचनेसे वृक्ष वृद्धिको प्राप्त होताहै, वैसेही) ग्रहण शिक्षा तथा आसेवना शिक्षाकी वृद्धि होतीहै ॥ १२ ॥ जो गृहस्थ इस लोकके लिये, अन्न-पानी आदिके उपभोगके लिये, स्वय के लिये अथवा पुत्रादि के लिये शिल्प, लोहार, कुम्हार आदिके कार्य तथा चित्र कलायें आदि अपने कलाचार्य गुरुके पाससे सीखते समय राजकुंवर जैसेभी घोर वध, बंधनको तथा दारुण परितापको कलाचार्यकी तरफ़से प्राप्त करते हुये भी शिल्प-कला सीखनेके लिये उस कलाचार्य गुरुको पूजतेहैं, सत्कार

करतेहैं, नमस्कार करतेहैं, और प्रसन्न होकर उसकी आज्ञा स्वीकार करतेहैं, तो परम पुरुष प्रणीत श्रुत ज्ञान पढ़नेकी अभिलाषा वाले तथा मोक्षकी कामनावाले साधुको तो उन आचार्य महाराजकी सेवा अवश्य करना योग्यहै, इस कारणसे जो वचन आचार्य महाराज कहें, वह वचन साधुको उल्लंघन करना बिलकुल योग्य नहीं ॥ १३–१४–१५–१६ ॥

मूल सूत्रं—नीअं सिज्जं गइं ठाणं, नीअं च आसणाणि अ। नीअं च पाए वंदिज्जा, नीअं कुज्जा अ अंजलिं ॥ १७ ॥ संघट्टइत्ता काएणं, तहा उवहिणामवि। खमेह अवराहं मे, वइज्ज न पुणु त्ति अ ॥ १८ ॥ दुग्गओ वा पओएणं, चोइओ वहई रहं। एवं दुबुद्धि किच्चाणं, वुत्तो वुत्तो पकुव्वई ॥ १९ ॥ आलवंते लवंते वा, न निसिज्जाए पडिस्सुणे। मुत्तुण आसणं धीरो, सुस्सूसाए पडिस्सुणे ॥ २० ॥

भावार्थः—साधुको गुरुके संथारेसे अपना संथारा नीचा करना चाहिये तथा आचार्य (गुरु) के पीछे चलना चाहिये, आचार्यके स्थानसे अपना स्थान नीचा रखना चाहिये, पाट आदि आसन आचार्यके आसनसे नीचे रखने चाहिये, अपना मस्तक नीचे नमा करके आचार्य महाराजके चरणोंमें नमस्कार करना चाहिये और

किसी कार्य प्रसंगसे कायाको नीची नमाकरके हाथ जोडने चाहिये ॥ १७ ॥ वचनसे विनय किस रीतिसे करना चाहिये ? किसी प्रकार अजानपनेसे आचार्य महाराजका अविनय हुआ होतो शिष्य आचार्य महाराज के आगे जाकर अपने हाथसे अथवा मस्तकसे गुरुके चरणको स्पर्श करके अथवा किसी कारणवश एकांत प्रदेशमें बैठेहो जिससे स्पर्श न होसके तो उनकी उपधि (आसन आदि) पर हाथ स्थापन करके ऐसे कहना चाहिये कि हे गुरु ! मेरेसे किये हुये इस अपराधको आप क्षमा करो. यह अपराध 'ऐसा मैंदभागी' मैं फिर कभीभी नहीं करूँगा ॥ १८ ॥ इस पूर्वोक्त विनयको विद्वान्‌तो जान करके कर सकताहै परन्तु जो अविद्वान् हो तो किस तरह कर सकताहै ? जैसे-परूणा (चाबुक) से प्रेरित किया हुआ गलिया बैल रथको चलाताहै, वैसेही दुर्बुद्धि शिष्य बारम्बार प्रेरणा करने पर आचार्यके कथनानुसार कार्य करताहै ॥ १९ ॥ आचार्यके शिष्यको एकवार अथवा बारम्बार बुलाने पर शिष्यको अपने आसन पर बैठेहुये उत्तर नहीं देना चाहिये परन्तु अपने आसनको छोडकर, समीप आकर तथा हाथ जोडकर उत्तर देना चाहिये ॥ २० ॥

मूल सूत्रं—कालं छंदोवयारं च, पडिलेहित्ताण हेउहिं । तेण तेण उवाएण, तं तं संपडिवायए ॥ २१ ॥

विवत्ती अविणीअस्स, सम्पत्ती विणिअस्स य जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥ २२ ॥ जे आवि चंडे मइइड्ढिगारवे, पिसुणे नरे साहसहीणपेसणे। अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए, असंविभागी न हु तस्स मुक्खो ॥ २३ ॥ निद्देसवित्ती पुण जे गुरूणं, सुअत्थधम्मा विणयम्मि कोविआ। तरित्तु ते ओघमिणं दुरुत्तरं, खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गय ॥ त्ति वेमि ॥ २४ ॥ इअ विणयसमाहिणामज्झयणे बीओ उद्देसो समत्तो ॥ २ ॥

भावार्थः—शिष्यको गुरु-भक्तिके लिये, अवसर, गुरुकी इच्छा, सेवा करने के भेद तथा देश आदिको हेतु-पूर्वक जानकर, उपाय करके उन २ वस्तुओंका संपादन करके देनी चाहिये ॥ २१ ॥ अविनयवान् शिष्य के ज्ञानादि गुणोंका नाश होताहै और विनयवान् शिष्यके ज्ञानादि गुणोंकी वृद्धि होतीहै, जिसने इन दोनों भेदोंको जान लियाहै, वह पुरुष ग्रहण आसेवना रूप शिक्षाको प्राप्त होताहै, क्योंकि भावसे उपादेय (ग्रहण करने योग्य) वस्तुका ज्ञान उसको होजाताहै ॥ २२ ॥ अविनयका फल बताते हैं—जो मनुष्य चारित्र लेनेके बादभी क्रोधी, ऋद्धिगारव वाला (घमंडी), अन्यकी पीछे निंदा करने वाला, अकृत्य करनेमें तत्पर, गुरुकी आज्ञा नहीं मानने वाला, श्रुत धर्मादिका नहीं समझने वाला, विनयको नहीं जानने वाला और संविभागी

अर्थात्—अपने लिये लाई हुई वस्तुओंमेंसे अन्य साधुओंको निमंत्रणा नहीं करने वाला इस प्रकार क्लिष्ट अध्यवसाय वालेको मोक्ष कभीभी नहीं मिल सकती ॥ २३ ॥ विनयका फल बतातेहैं—जो शिष्य निरंतर गुरुकी आज्ञामें रहते हैं, जो गीतार्थ बनेहुए हैं, विनय करनेमें निपुणहैं, वे शिष्य दुस्तर संसार—समुद्रको तैरकर समस्त कर्मोंको खपा करके, उत्तम सिद्ध गतिको प्राप्त होतेहैं ॥ इति विनय समाधि नामक नवम अध्यनका दुसरा उद्देशक संपूर्ण ॥ ९-२ ॥

मूल सूत्रं—आयरिअं (अ) अग्गिमिवाहिअग्गी, सुस्सूसमाणो पडिजागरिज्जा । आलोइअं इंगिअमेव नच्चा, जो छंदमाराहयई स पुज्जो ॥ १ ॥ आयारमट्ठा विणयं पउंजे, सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं । जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो, गुरुं च नासाययई स पुज्जो ॥ २ ॥ रायणिएसु विणयं पउंजे, डहराऽवि अ जे परिआयजिट्ठा । नीअत्तणे वट्टइ सच्चवाई, ओवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥ ३ ॥ अन्नायउंछं चरई विसुद्धं, जवणट्ठया समुआण च निच्च । अलद्धुअं नो परिदेवइज्जा, लद्धुं न विकत्थई स पुज्जो ॥ ४ ॥ संथार-सिज्जा-सण-भत्त-पाणे, अप्पिच्छया अइलाभेऽवि संते । जो एवमप्पाणभितोसइज्जा, संतोसपाहन्नरए स पुज्जो ॥ ५ ॥

भावार्थः—(अथ तृतीय उद्देशक)–इस तीसरे उद्देशकमें विनयवान् शिष्य पूजनीक कैसे होताहै, यह कहनेमें आवेगा। जैसे अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्निकी शुश्रुषा करता हुवा सावधान रहताहै, वैसेही शिष्योंको आचार्यके अथवा जिनकी आज्ञामें रहकर विहार करतेहों उन पर्याय ज्येष्ठके जो २ कार्य करने के हों उन्हें करके सेवा करनी चाहिये. सेवा करने का उपाय वताते हैं–आचार्य आदिका वस्तुकी तरफ अवलोकन करना, जैसे–ठंड पडने पर वस्त्रकी तरफ देखें, तव समझना चाहिये कि कम्बल आदिकी आवश्यकताहै तो वह शीघ्र हीदेनी चाहिये, इसरीति से इंगित आकार (मानसिक विचार) को जानकरके आचार्यके अभिप्रायके अनुसार कार्य करनेवाला शिष्य पूजनीक होताहै और कल्याणको प्राप्त करताहै ॥ १ ॥ शिष्य ज्ञानादि आचारके लिये विनय करते हैं, वैसेही उनके आचार्य महाराजकी क्या आज्ञाहै वह सुनने की इच्छा रखते हुए गुरुके किसी कार्यको करनेकी आज्ञा देने पर गुरुके वचनको अंगीकार करके तथा जैसे गुरुने कहाहो वैसे श्रद्धापूर्वक करनेकी इच्छा रखते हुए विनय करना चाहिये, परन्तु जो शिष्य गुरुने जो कहाहो उससे अन्यथा करके गुरुकी आशातना कभी न करे वह पूजनीक होताहै ॥ २ ॥ जो साधु रत्नाधिकों का (दीक्षामें बड़ेहों

उनका) यथायोग्य विनय करताहै तथा जो उम्रमें छोटेहों परन्तु श्रुत ज्ञानसे अथवा दीक्षा पर्यायसे ज्येष्ठहों उनकीभी विनय करके अपनेसे अधिक गुणवान्‌के प्रति नम्र भावसे वर्त्तन करनेवाला, सत्य बोलने वाला, आचार्यको वंदन करने वाला अथवा आचार्य महाराजके समीप रहनेवाला और उनके वचनके अनुसार करने वाला शिष्य पूजनीक होताहै ॥ ३ ॥ निरंतर बिना परिचय वाले घरोंसे उचित (साधुके योग्य) भिक्षामें मिले हुए निर्दोष आहारको संयम भारको वहन करने के लिये तथा अपने शरीरके निर्वाह के लिये भक्षण करे, पूर्वोक्त आहार नहीं मिले तो खेद भी नहीं करे और योग्य आहार मिलने पर देने वालेकी अथवा देशकी प्रशंसा भी न करे वह पूजनीक होताहै ॥ ४ ॥ यदि साधुको संथारा, शय्या, आसन, भक्त और पानादि बहुत मिलते हों तो उनपर मूर्छा (मोह) नहीं रखे और संतोषको ही प्रधान मानकर जैसे तैसे संथारादिकसे भी अपना निर्वाह करे वह साधु पूजनीक होताहै ॥ ५ ॥

मूल सूत्रं—सक्का सहेउ आसाइ कटया, अओमया उच्छहया नरेण। अणासए जो उ सहिज्ज कंटए, वईमए कन्नसरे स पुज्जो ॥ ६ ॥ मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया, अओमया तेऽवि तओ सुउद्धरो। वायादुरुत्ताणि

दुरुद्धराणि, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ ७ ॥ समावयंता वयणाभिघाया, कन्नंगया दुम्मणिअं जणंतिं । धम्मु त्ति किच्चा परमग्गसूरे, जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ॥ ८ ॥ अवण्णवायं च परम्मुहस्स, पच्चक्खओ पडिणीअं च भासं । ओहारणिं अप्पिअकारिणिं च, भासं न भासिज्ज सया स पुज्जो ॥ ९ ॥ अलोलुए अक्कुहए अमाई, अपिसुणे आवि अदीणवित्ती । नो भावए नोऽवि अ भाविअप्पा, अकोउहल्ले अ सया स पुज्जो ॥ १० ॥

भावार्थः—धन इकट्ठा करनेमें उत्साह वाला मनुष्य धनकी आशासे लोहके काँटोंको सहन करताहै परन्तु वहभी वचन रूपी काँटे नहीं सह सकता और आत्म–सुखके अभिलाषी जो साधु किसी भी प्रकारकी इच्छा रखे बिना कानमें सुनाई देते हुए कठिन वचन रूपी काँटोंको सहते हैं वे पूजनीकहैं ॥ ६ ॥ लोहके ये काँटे एक मुहूर्त्त मात्र दुःख देने वाले हैं उनका उद्धार भी शरीरमें से सुखसे किया जासकता है, परन्तु इन कठोर वचन रूपी दुर्वाक्योंको मनमेंसे दुःखसे उद्धार किया जासकता है तथा ऐसे दुर्वचनोंसे बैरानुबंधी वैर तथा कुगतिमें पडने रूप महाभय उत्पन्न होताहै ॥ ७ ॥ सन्मुख आते हुये कठोर वचन रूपी प्रहार, कानमें प्राप्त होनेसे मनमें दुष्ट भावको उत्पन्न करतेहैं, जो महा शूरवीर और जितेंद्रिय साधु इस कठोर वचन

रूपी प्रहारको धर्म (इसको समभावसे सहन करनेसे कर्मोंकी निर्जरा होगी ऐसे) जानकर समभावसे सहन करताहै वह पूजनीयहै ॥ ८ ॥ वैसेही जो साधु, आहारादिमें लोलुपि न हो, इन्द्रजालादि नहीं करने वाला, कुटिलता रहित, चुगली नहीं करने वाला, दीनता रहित, अकुशल भावनासे परको वासित नहीं करने वाला (जैसा कि अन्यके पास तुम मेरे गुण बोलना इत्यादि), तथा स्वयं अन्यके पास अपने गुणोंका वर्णन नहीं करने वाला और निरन्तर नाटकादि कौतुक देखनेकी इच्छा रहितहो वह पूजनीकहै ॥ ९–१० ॥

मूल सूत्रं—गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहू गुण मुंचऽसाहू । विआणिआ अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥ ११ ॥ तहेव डहरं च महल्लगं वा, इत्थीं पुमं पव्वइअं गिहिं वा । नो हीलए नोऽवि अ खिंसइज्जा, थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥ १२ ॥ जे माणिआ सययं माणयंति, जत्तेण कन्नं व निवेसयाति । ते माणए माणरिह तवस्सी, जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो ॥ १३ ॥ तेसिं गुरूणं गुणसायराण, सुच्चाण मेहावि सुभासिआइं । चरे मुणी पचरए तिगुत्तो, चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥ १४ ॥ गुरुमिह सययं पडिअरिअ मुणी, जिणमयनिउणे अभिगमकुसले । धुणिय रयमलं पुरेकडं, भासुरमउलं गइं वइ (गय)

॥ त्ति वेमि ॥ १५ ॥ इअ विणयसमाहीए तइओ उद्देसो समत्तो ॥ ९-३ ॥

भावार्थः—पूर्व-वर्णित विनयादि गुण वाला साधु कहलाताहै और उन गुणोंके विना साधु नहीं होसकता यदि ऐसेहै तो हे शिष्य ! साधुके गुणोंका ग्रहण कर और असाधुके दोषोंका त्याग कर, जो साधु इस रीति से अपनी आत्माको समझाता है तथा राग-द्वेषके समयमें समपरिणाम वाला रहताहै, अर्थात्-राग-द्वेष नहीं करता वह साधु पूजनीकहै ॥ ११ ॥ वैसेही जो साधु छोटे साधुकी अथवा वडे साधुकी, स्त्रीकी अथवा पुरुषकी, दीक्षित हो अथवा गृहस्थहो उनकी हीलना न करे, वारम्वार खींसना न करे, तथा हीलना और खींसनाके निमित्त मान और क्रोधका त्याग करे, वह पूजनीकहै ॥ १२ ॥ जो शिष्य गुरुको आते हुये देखकर खडा होजाना इत्यादि निरंतर गुरुका सत्कार करते हैं और गुरु अपने शिष्यको श्रुतके उपदेशमें प्रेरणा आदि करके मान देतेहैं (आगे वढ़ाते हैं), जैसे माता-पिता, कन्याको यत्न पूर्वक वड़ी करके, योग्य पतिके साथ स्थापन करतेहैं (व्याहते हैं), वैसेही आचार्य महाराज भी शिष्योंको विनयवान्, गुणवान् और योग्य बना करके आचार्य पदपर स्थापन करते हैं, ऐसे मानने लायक, तपस्वी, जितेंद्रिय और सत्यमें रक्त शिष्यको गुरु

कोभी मान देना चाहिये, वह इस प्रकार मान पानेवाला शिष्य पूजनीक होताहै ॥ १३ ॥ पांच महाव्रत और तीन गुप्ति सहित, तथा चार कषाय रहित बुद्धिवान् शिष्यको गुणोंके समुद्र समान गुरुसे पूर्वोक्त शुभ उपदेश श्रवण करके उसके अनुसार चलने वाला शिष्य पूजनीक होताहै ॥ १४ ॥ वह शिष्य जिनेश्वर भगवान् के कहे हुए धर्ममें निपुण और ग्रामांतरसे आये हुए नये साधु आदिकी वैयावच्च करनेमें कुशल, निरंतर आचार्यादिकी सेवा करके पूर्व-उपार्जित आठ प्रकारके कर्मोंको खपा करके ज्ञानसे तेजोमय, उपमा रहित ऐसी उत्तम सिद्धि गतिमें प्राप्त होताहै ॥ १५ ॥ इति नवम अध्ययनका तीसरा उद्देशक समाप्त ॥ ९-३ ॥

मूल सूत्रं—सुअं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं । इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता । कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता ? इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता । तं जहा—विणयसमाही, सुअसमाही, तवसमाही, आयारसमाही । " विणए सुए अ तवे, आयारे निच्च पंडिआ । अभिरामयंति अप्पाणं, जे भवंति जिइंदिआ" ॥१॥ चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ । तं जहा—अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ १, सम्मं संपडिवज्जइ २, वेयमाराहइ ३,

न य भवइ अत्तसंपग्गहिए ४, चउत्थं पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो ॥ "पेहेइ हिआणुसासणं, सुस्सूसई तं च पुणो आहिट्ठिए । न य माणमएण मज्जई, विणयसमाहि आययट्ठिए" ॥ २ ॥ चउव्विहा खलु सुअसमाही भवइ । तं जहा—सुअं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइअव्वं भवइ १, एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइअव्वं भवइ २, अप्पाणं ठावइस्सामित्ति अज्झाइअव्वं भवइ ३, ठिओ परं ठावइस्सामित्ति अज्झाइअव्वं भवइ ४, चउत्थं पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो ॥ "नाणमेगग्गचित्तो अ, ठिओ अ ठावई परं । सुआणि अ अहिज्जित्ता, रओ सुअसमाहिए" ॥ ३ ॥ चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ । तं जहा—नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा १, नो परलोगट्ठआए तवमहिट्ठिज्जा २, नो कित्ति-वन्न-सद्द-सिलोगट्ठआए तवमहिट्ठिज्जा ३, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ४, चउत्थं पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो ॥ "विविहगुणतवोरए निच्चं, भवइ निरासए निज्जरट्ठिए । तवसा धुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए" ॥ ४ ॥

भावार्थः—अब चौथे उद्देशकमें विशेषकर विनय वतातेहैं—श्रीसुधर्मास्वामी अपने जंबूनामक शिष्यसे कहते हैं कि हे आयुष्मान ! मैंने जिन भगवान्से सुनाहै, उन स्थविर भगवान्ने विनय समाधिके चारस्थान कहेहैं

शिष्यका प्रश्न–हे भगवन्! स्थविर भगवन्‌ने विनयके कैसे चारस्थान बतायेहैं? गुरु उत्तर देतेहैं, जो चारस्थान स्थविर भगवान् ने कहेहैं वे ये हैं–विनय समाधि, श्रुत समाधि, तपसमाधि, आचार समाधि. आत्माके हितकारक सुखमें रहना वह समाधि विनयसे की जानेवाली विनय समाधि, श्रुतसे प्राप्त श्रुत समाधि, तपस्या से प्राप्त तप समाधि और आचार से प्राप्त आचार समाधि समझना चाहिये, जो साधु, विनयमें, श्रुतमें, तपस्या में और आचारमें अपनी आत्माको निरन्तर जोडताहै तथा जो जितेन्द्रियहै वही निश्चय पंडितहै ॥ १ ॥ विनय समाधि बतातेहैं–विनय समाधि चार प्रकार की है वह बतातेहैं–गुरु जिन २ कार्योंमें प्रेरणा करें उसके अभिलाषी होकर उसको सुनने की इच्छाकरे (१), वह कार्य अच्छी तरहसे अंगीकार करे (२), यथोक्त प्रकारसे श्रुत-ज्ञान की आराधनकरे (३), ओर मैं विनयवान् हूँ ऐसी अपनी प्रशंसा नहीं करे (४), इस अर्थको बतलाने वाला श्लोक कहते हैं–आत्म हितार्थी साधु हित शिक्षाकी इच्छा करे, आचार्यादिके पाससे हित शिक्षाके उपदेशको ठीक जानकर उसके अनुसार करे, परन्तु विनय समाधिमें मान करके गर्वित न होवे ॥ २ ॥

अथ—श्रुत–समाधि कहते हैं–श्रुत समाधि चार प्रकारकी है–मुझे श्रुतज्ञान (द्वादशांगी) की प्राप्ति

होगी उसके लिये पढना चाहिये परंतु घमंडके लिये नहीं पढना चाहिये १, पढनेमें एकाग्रचित्त वाला होऊंगा इस हेतु पढना चाहिये २, पढनेसे धर्म–तत्त्वको जानकर अपनी आत्माको शुद्ध धर्ममें स्थापन करूंगा ३, मैं शुद्धधर्ममें रहकर अन्यको भी शुद्ध धर्ममें स्थापन करूंगा ४, इस हेतुसे पढना योग्यहै, इस अर्थको बतलाने वाला श्लोक कहते हैं ॥ पढनेमें निरंतर लगे रहनेसे ज्ञान होताहै, चित्तकी एकाग्रता होती है, स्वयं धर्ममें स्थिर होताहै, और अन्यको स्थिर करताहै तथा नाना प्रकारके सिद्धांत पढकर श्रुत–समाधिमें लिप्त होताहै ॥ ३ ॥ अब तप समाधि बताते हैं–निश्चय करके यह तप समाधि चार प्रकारकी है, इस लोकमें लब्धि आदिकी इच्छासे तपस्या नहीं करनी चाहिये १, परलोकमें भोगादिकी प्राप्तिके लिये तपस्या नहीं करनी २, कीर्ति, वर्ण, शब्द, और साधु होकर प्रशंसा करानेके लिये तपस्या नहीं करनी ३, परंतु निर्जरा के लियेही तपस्या करनी चाहिये ४, इस अर्थको बतलाने वाला श्लोक बताते हैं—जो साधु विविध प्रकारके गुणवाली तपस्यामें निरंतर (हमेशा) आसक्त रहताहै, इसलोकादि की आशासे रहित होताहै और निर्जराके लिये तप करताहै, वह तपस्यासे पूर्व में किये हुए कर्मोंका नाश करताहै और तप समाधिमें जुडाहुआ नये पापका बंधन नहीं करताहै ॥ ४ ॥

मूल सूत्रं—चउव्विहा खलु आयार समाही भवंइ। तं जहा—नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा १, नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा २, नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा ३, नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा ४, चउत्थं पय भवइ। भवइ अ इत्थ सिलोगो—जिणवयणरए अतिंतिणे, पडिपुन्नाययमाययट्ठिए। आयारसमाहिसवुडे, भवइ अ दंते भावसंधए ॥ ५ ॥ अभिगम चउरो समाहिओ, सुविसुद्धो सुसमाहिअप्पओ। विउलहिअं सुहावह पुणो, कुव्वइ अ सो पयखेममप्पणो ॥ ६ ॥ जाइमरणाओ मुच्चइ, इत्थंत्थ च चइए सव्वसो। सिद्धे वा हवइ सासए, देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥ त्ति बेमि ॥ ७ ॥ चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥ इअ विणयसमाही नाम नवममज्झयणं समत्तं ॥ ९ ॥

भावार्थः—आचार समाधि कहते हैं—मूलगुण और उत्तरगुणरूप आचार समाधि चार प्रकारकी है वह बताते हैं—इस लोकके सुखार्थ आचार (क्रिया) का पालन नहीं करना १, परलोकके विषयिक सुखके लिये आचार नहीं पालना २, वैसेही कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लाघा (प्रशसा) के लिये आचार नहीं पालना चाहिये ३, परन्तु अरिहत भगवन्के सिद्धांतमें कहेहुए हेतुके लिये (मोक्षके लिये) आचारका पालन करना चाहिये ४,

इस अर्थको कहने वाला श्लोक बताते हैं ॥ आचार (क्रिया) में समाधि रखनेके लिये आश्रवद्वारको रोकने वाला साधु, जिन वचनमें रक्त, अतिंतनं [अक्लेशी], सूत्रादिसे परिपूर्ण, मोक्षार्थी और इन्द्रियोंको दमन करने वाला, होकर मोक्षके समीप पहुंचने वाला होताहै ॥ १५ ॥ मन, वचन, कायासे विशुद्ध और सतरह प्रकारके संयममें सुसमाहित साधु ऊपर बताई हुई चार प्रकारकी समाधिको जानकर विस्तारवाले भविष्यमें हितकारी और सुखकारी अपने पदको निरुपद्रवित (विना उपद्रवका), सरल, सुमग, करताहै ॥ ११ ॥ इस ऊपरकी गाथाको ही स्पष्ट रूपसे कहतेहैं—इस समाधिवाला साधु जन्म—मरणसे मुक्त होताहै और नरक, तिर्यंच आदिके वर्ण, देह, आकृतिको फिर नहीं ग्रहण करने रूप सर्वथा त्याग करताहै और संसारमें फिर नहीं आने रूप शाश्वता सिद्ध होताहै, कदाचित् शेष कर्म बाकी रहेहों तो जहाँ अल्प (थोडा) काम विकारहै ऐसे महर्द्धिक देवपनेमें उत्पन्न होताहै ॥ १२ ॥ यह चतुर्थ उद्देशक ॥ इति विनय समाधि नामक नवम अध्ययन संपूर्ण ॥

॥ अह भिक्खू नामं दसममज्झयणं ॥

मूल सूत्र—निक्खम्ममाणाइ अ बुद्धवयणे, निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा । इत्थीण वसं न आवि गच्छे, वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू ॥१॥ पुढविं न खणे न खणावए, सीओदगं न पिए न पिआवए । अगणि-सत्थं जहा सुनिसिअं, तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥ २ ॥ अनिलेण न वीए न वीयावए, हरियाणि न छिंदे न छिंदावए । बीआणि सया विवज्जयंतो, सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥ ३ ॥ वहूणं तसथावराण होइ, पुढवीतणकट्ठनिस्सिआणं । तम्हा उद्देसिअं न भुंजे, नोऽवि पए न पयावए जे स भिक्खू ॥ ४ ॥ रोइअ नायपुत्तवयणे, अत्तसमे मन्निज्ज छप्पि काए । पंच य फासे महव्वयाइं, पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥ ५ ॥

भावार्थ.—नवम अध्ययनमें यह बताया गयाहै कि आचारमें रहाहुआ साधु विनयवान् होताहै । पूर्व व-र्णित नवम अध्ययनके अनुसार आचारमें रहने वालेको साधु कहते हैं, यह दशम अध्ययनमें कहा जायगा. तीर्थंकर गणधरों के उपदेशसे जो गृहस्थाश्रमसे निकलकर तीर्थंकर गणधरों के वचनोंमें निरंतर समाहित चित्तवाले होतेहैं और स्त्रियोंके वशमें जो नहीं आतेहैं तथा छोडे हुये विषयोंको फिर भोगते नहींहै, वे ही साधु कहातेहैं ॥ १ ॥ सचित्त पृथ्वी स्वयं खोदे नहीं, अन्यसे खुदावे नहीं, कच्चा जल स्वयं पीवे नहीं, अन्यको

पिलावे नहीं, तीक्ष्ण खड्गकी तरह हानिकारक अग्नि स्वयं जलावे नहीं, अन्यसे जलवावे नहीं उनको मुनि कहना चाहिये ॥ २ ॥ वस्त्र अथवा पंखे आदिसे वायु चलावे नहीं, अन्यसे चलवावे नहीं, वनस्पतिको स्वयं छेदे नहीं, अन्यसे छेदावे नहीं, चांवल आदिके बीजोंका संघट्टन सर्वथा त्याग करे और सचित्त आहारका भक्षण नहीं करे उसको साधु कहना चाहिये ॥ ३ ॥ निमित्तक आहार न लेनेसे त्रस तथा स्थावर जीवोंकी रक्षा होतीहै, पृथ्वी, तृण और काष्टादिकी निश्रामें रहेहुये त्रस तथा स्थावर जीवोंका वध होताहै, इस कारणसे साधुके लिये बनाये हुये उद्देशिक आहारको जो साधु नहीं लेताहै, वैसेही स्वयं आहार नहीं पकाताहै और अन्यसेभी नहीं पकवाताहै, वही साधु कहाताहै ॥ ४ ॥ ज्ञात पुत्र श्रीमान् वर्धमान स्वामीके वचन पर रुचि धारण करके (श्रद्धा रखके) जो छः जीवनिकायको अपनी आत्माके तुल्य मानते हैं, तथा पांच महाव्रतोंको जो पालते हैं और पांच आश्रवोंको जो रोकतेहैं वेही साधु कहातेहैं ॥ ५ ॥

मूल सूत्रं—चत्तारि वमे सया कसाए, धुवजोगी हविज्ज बुद्धवयणे। अहणे निज्जायरूवरयए, गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥ ६ ॥ सम्मदिट्ठी सया अमूढे, अत्थि हु नाणे तवे संजमे अ। तवसा धुणइ पुराण-

पावगं, मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥ ७ ॥ तहेव असणं पाणगं वा, विविहं खाइमसाइमं लभित्ता। होही अट्ठो सुए परे वा, तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू ॥ ८ ॥ तहेव असणं पाणगं वा, विविहं खाइमसाइमं लभित्ता। छदिअ साहम्मिआण भुंजे, भुच्चा सज्झायरए जे स भिक्खू ॥ ९ ॥ न य वुग्गहिअं कहं कहिज्जा, न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते। संजमे धुवं जोगेणजुत्ते, उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥ १० ॥

भावार्थ.—जो चार कषायोंका सदा त्याग करतेहैं, आगमके वचनोंसे मन, वचन, कायाके योगोंको स्थिर रखते हैं, पशुके समान सोने-चांदीका त्याग करते हैं और जो गृहस्थियोंके साथ परिचय सम्बन्ध रखते नहीं हैं वे साधु कहाते हैं ॥ ६ ॥ जो साधु सम्यक् दृष्टि और हमेशा विक्षेप रहित चित्तमें स्वयं ऐसे मानताहै कि हेय, उपादेय वस्तु विषयिक तो ज्ञानहै तथा कर्ममलको धोनेके लिये जलके समान तपस्याहै, वैसेही आते हुये कर्मोंको रोकनेके लिये संयमहै ऐसेही दृढ़भावरूप तपस्यासे पूर्वके पापोंका नाशकरतेहैं और मन, वचन, कायासे आतेहुये पापोंको रोकते हैं ॥७॥ वैसेही नाना प्रकारके अशन, पान, खादिम, स्वादिमको प्राप्त करके यह मुझे कल अथवा परसों काम आयगा ऐसा विचारकर उस आहारादिको रात्रिवासी रखते नहीं हैं

अन्यसे रखवाते नहीं हैं इस प्रकार जो सर्वथा संनिधिका (रात्रिवासी रखनेका) त्याग करते हैं वेही साधु कहातेहैं ॥ ८ ॥ वैसेही नाना प्रकारके अशन, पान, खादिम स्वादिमको प्राप्तकरके जो अपने स्वधर्मी साधुओंको बुलाकर निमन्त्रणा करताहै, निमन्त्रणा करके आहार करताहै और आहार करनेके वाद सज्झाय-ध्यानादि में तत्पर रहताहै वही मुनि कहलाताहै ॥ ९ ॥ जो क्लेशवाली कथाको नहीं करताहै, फिर अच्छी कथामेंभी कोप नहीं करताहै, इन्द्रियोंको शांत रखताहै तथा रागादि रहित होकर विशेष प्रकारसे शांत रहताहै, वैसे-ही संयमके विषयमें निरन्तर मन, वचन, कायाके योगोंको लगाय रखताहै तथा जो कायाकी चपलता रहित उचित कार्यमें अनादर नहीं करनेवाला होताहै, वही मुनि कहाताहै ॥ १० ॥

मूल सूत्रं—जो सहइ हु गामकंटए, अक्कोसपहारतज्जणाओ अ । भयभेरवसद्दसप्पहासे, समसुहदुक्खसहे अ जे स भिक्खू ॥ ११ ॥ पडिमं पडिवज्जिआ मसाणे, नो भीयए भयभेरवाइं दिस्स । विविहगुणतवोरए अ निच्चं, न सरीरं चाभिकंखए जे स भिक्खू ॥ १२ ॥ असइं वोसट्ठचत्तदेहे, अक्कुट्ठे व हए लूसिए वा । पुढविसमे मुणी हविज्जा, अनिआणे अकोउहल्ले जे स भिक्खू ॥ १३ ॥ अभिभूअ काएण परीसहाइं, समुद्धरे

जाइपहाउ अप्पयं । निइत्तु जाईमरणं महब्भयं, तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥ १४ ॥ हत्थसंजए पाय-संजए, वायसंजए संजइंदिए । अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा, सुत्तत्थ च विआणइ जे स भिक्खू ॥ १५ ॥

भावार्थ —जो मुनि इन्द्रियोंको काटेके समान दुःखरूप आक्रोश, प्रहार और तर्जनादि सहन करताहै और भयानक, अत्यन्त रौद्र, अटह हास्यादिके शब्दोंको, देवादिके उपसर्गोंको तथा सुख दुःखको समतासे सहन करताहै वह साधु कहाताहै ॥ ११ ॥ जो साधु श्मशानमें प्रतिमा अंगीकार करके रौद्र भयके हेतुभूत वेताल आदिके शब्द और रूपादि देखकर भयको नहीं प्राप्त होताहै तथा विविध प्रकारके मूलगुण और अनशनादि तपस्यामें आसक्त होकर शरीरका भी मोह नहीं रखताहै वह साधु कहाताहै ॥ १२ ॥ जो साधु द्रव्य और भाव प्रतिबन्धरहित हो करके निरन्तर देहको वोसराताहै तथा यदि कोई वचनसे आक्रोश करे, दंडादिसे मारे और खड्गादिसे काटे तोभी पृथ्वीके समान सर्व सहन करने वाला होता है, तथा संयमके भावी फलके लिये नियाणा तथा कुतुहल रहित होताहै वह साधु कहाताहै ॥ १३ ॥ जो साधु कायासे परिषहोंका पराजय करके संसार-मार्गसे अपनी आत्माका उद्धार करताहै और संसारके मूल कारणरूप जन्म मरणरूप महाभय

को जानकर साधुपनेके योग्य तपस्यादिमें प्रयत्न करताहै वह साधु कहाताहै ॥ १४ ॥ जो साधु हाथ, पैर, वचन और इन्द्रियोको अपने वशमें रखताहै तथा प्रशस्त ध्यानमें आसक्त रहताहै आत्माको ध्यान प्राप्त करने वाले गुणोंमें स्थिरता करताहै और सूत्र–अर्थको ठीक तरह जानताहै वह साधु कहाताहै ॥ १५ ॥

मूल सूत्रं—उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे, अन्नायउंछं पुलनिप्पुलाए । कयविक्कयसन्निहिओ विरए, सव्वसंगावगए अ जे स भिक्खू ॥ १६ ॥ अलोल (लु) भिक्खू न रसेसु गिज्झे, उंछं चरे जीविअ नाभिकंखे । इड्ढिं च सक्कारण पूअणं च, चए ठिअप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥ १७ ॥ न परं वइज्जासि अयं कुसीले, जेणं च कुप्पिज्ज न तं वइज्जा । जाणिअ पत्तेअं पुन्नपावं, अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥ १८ ॥ न जाइमत्ते न य रूवमत्ते, न लाभमत्ते न सुणए मत्ते । मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥ १९ ॥ पवेअए अज्जपयं महामुणी, धम्मे ठिओ ठावयई परं पि । निक्खम्म वज्जिज्ज कुसीललिंगं, न आवि हासं कुहए जे स भिक्खू ॥ २० ॥ तं देहवासं असुइं असासयं, सया चए निच्चहिअट्ठिअप्पा । छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं, उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥ ति वेमि ॥ २१ ॥ इअ भिक्खु नामं दसममज्झयणं समत्तं ॥ १० ॥

भावार्थ—जो साधु वस्त्रादि उपधिके विषयमें मूर्छा रहित, प्रतिबंध रहित, बिना परिचयवाले घरोंसे शुद्ध और थोडे २ वस्त्र लेनेवाला, संयममें असारत उत्पन्न करनेवाले दोषोंसे रहित, खरीदना, बेचना, तथा सग्रह करनेसे रहित तथा सर्व द्रव्य–भाव संग रहित हो वह साधु कहाताहै ॥१६॥ जो साधु प्राप्त न होनेवाली वस्तुकी प्राप्तिमें लोलुपता रहित हो, रसमें गृद्ध न हो, परिचय रहित घरोंसे थोडी २ और शुद्ध गोचरी लेनेवाला हो, असंयम रूप जीवितव्यकी आकांक्षा नहीं रखनेवाला, आमर्षादि ऋद्धि, वस्त्रादिसे सत्कार और स्तवनादिसे पूजाके लिये जो प्रयत्न नहीं करताहो तथा ज्ञानादिमें अपनी आत्माको स्थापन करनेवाला और कपट रहित हो वह साधु कहाता है ॥ १७ ॥ अपने समुदायसे भिन्न अन्य साधुओंको देखकर यह कुशील है ऐसे नहीं कहना, परंतु अपने शिष्योंको तो शिक्षाके लिये कहना पडे तो कहना चाहिये, जिससे दूसरेको क्रोध उत्पन्नहो ऐसे वचन नहीं कहना चाहिये, क्योंकि अपने किये हुये पुण्य, पाप-प्रत्येक भोगता है अन्य को नहीं भोगने पडते, इस लिये किस वास्ते बुरा लगाना चाहिये ? वैसेही अपनेमें वैसे गुणहों तो भी गर्व करे नहीं वह साधु कहाता है ॥ १८ ॥ जो जातिका मद नहीं करता है, वैसेही रूपका, लाभका, और श्रुत

का मद नहीं करताहै, जो सर्व प्रकारके मदको त्याग करके धर्ममें तत्पर रहता है वह साधु कहाता है ॥ १९ ॥ जो महामुनि परोपकारके लिये अन्यसे शुद्ध धर्म कहताहै, स्वयं धर्ममें स्थिर रहता है, और सुननेवाले को धर्ममें स्थिर करताहै, तथा गृहस्थपने में से निकल कर आरम्भादि से कुशीलपनेकी चेष्टा नहीं करता है, वैसे-ही हास्यकारी चेष्टा भी नहीं करता है वह साधु कहाता है ॥ २० ॥ मोक्षके साधन भूत सम्यक् दर्शनादि में रहा हुआ साधु, अशुचिसे भरा हुआ, और अशाश्वत इस देहवास का त्यागकर जन्म–मरणके बंधनों को छेदकरके विना पुनर्जन्म वाली सिद्धि गतिको प्राप्त होताहै. इस प्रकार श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूको कहते हैं ॥ २१ ॥ इति भिक्षु गुण नामक दशम अध्ययन संपूर्ण ॥ १० ॥

॥ अह रइवक्का पढमा चूलिआ ॥

मूल सूत्रं—इह खलु भो ! पव्वइएणं उप्पपणदुक्खेणं संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं ओहाणुप्पेहिणा अणो-हाइएणं चेव हयरस्सि-गयंकुस-पोयपडागाभूआइं इमाइं अट्ठारस ठाणाइं सम्मं संपडिलेहिअव्वाइं भवंति। तं जहा—हं भो ! दुस्समाए दुप्पजीवी ॥ १ ॥ लहुसगा इत्तरिआ गिहीणं कामभोगा ॥ २ ॥ भुज्जो अ साइबहुला

मणुस्सा ॥ ३ ॥ इमे अ मे दुक्खे न चिरकालोवट्ठाई भविस्सई ॥ ४ ॥ ओमजणपुरक्कारे ॥ ५ ॥

॥ अथ रतिवाक्य नामक पहली चूलिका ॥

भावार्थः—पिछले दशम अध्ययनमें यह बताया गयाहे कि जो साधुके गुणोंसे युक्तहो वही साधु कहाताहे। इस प्रकारके गुणोंवाला साधुभी यदि कर्मोंकी प्राबल्यता (अधिकता) से शारीरिक अथवा मानासिक दुःखोंसे दुःखीहो, तो उसको संयममें स्थिर करना योग्यहे, अतएव संयममें स्थिर करनेके लिये यह चूलिका कहनेमें आतीहे—हे शिष्यों ! प्रव्रज्या अंगीकार किया हुआ साधु, यदि शारीरिक अथवा मानसिक दुःख उत्पन्न होनेसे संयमसे उद्वेग प्राप्त करके संयमको त्याग करनेकी इच्छा वाला हुआहो परन्तु अभी तक संयमका त्याग किया नहींहो तो ऐसे साधुको जो ये आगे कहने में आयेंगे उन अठारह स्थानोंको अच्छी तरह जानना तथा विचरना चाहिये, जिस तरह उन्मार्ग चलते हुए घोडेको सन्मार्ग में लानेके लिये रश्मि (लगाम) हे, हाथीको वशमें करनेके लिये अंकुशहे और वहाण (नाव) को प्रवाहके मार्गमें लानेके लिये पताका हे, वैसेही संयमसे उन्मार्गमें चलने वाले साधुको ये अठारह स्थान संयममें लाने वाले हैं वे बताते हैं.—

इस दुःखम कालमें गृहस्थी प्राणी दुःखसे जीतेहैं तो मुझे गृहस्थाश्रमका क्या प्रयोजनहै ॥ १ ॥ यह गृहस्थ संबंधी काम-भोग बिना सारके, अल्प-काल तक रहने वाले, और विपाकसे कटुकहैं ॥२॥ मनुष्योंके इन भोगोंको भोगते हुये बारम्बार उनकी अभिलाषा उत्पन्न होती है परन्तु तृप्ति नहीं होती है ॥३॥ मुझे शारीरिक अथवा मानसिक दुःख उत्पन्न हुआ वह वहुत समय तक नहीं रहेगा, इसलिये गृहस्थाश्रम का मुझे क्या प्रयोजनहै ॥ ४ ॥ दीक्षित साधु धर्मके प्रभावसे राजादिसे भी पूजा जाताहै परन्तु दीक्षा छोड़नेके वाद उसको नीच मनुष्यों का भी अभ्युत्थानादि सन्मान करना पडताहै, इसलिये ऐसे गृहस्थाश्रमकी मुझे कोई जरूरत नहींहै ॥ ५ ॥

मूल सूत्रं—वंतस्स य पडिआयणं ॥ ६ ॥ अहरगइवासोवसंपया ॥ ७ ॥ दुल्लहे खलु भो ! गिहीणं धम्मे गिहवासमज्झे वसंताणं ॥ ८ ॥ आयंके से वहाय होइ ॥ ९ ॥ संकप्पे से वहाय होइ ॥ १० ॥ सोवक्केसे गिहवासे, निरुवक्केसे परिआए ॥ ११ ॥ वंधे गिहवासे, मुक्खे परिआए ॥ १२॥ सावज्जे गिहवासे, अणवज्जे परिआए ॥१३॥ वहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा ॥ १४॥ पत्तेअं पुन्नपावं ॥१५ अणिच्चे खलु भो ! मणुआण जीविए, कुसग्गजल विंदुचंचले १६ ॥ वहुं च खलु भो ! पावं कम्मं पगडं ॥ १७ ॥ पावाणं च खलु भो !

कडाण कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिकंताणं वेइत्ता मुक्खो, नत्थि अवेइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता ॥ १८ ॥ अट्ठारसमं पयं भवइ, भवइ अ इत्थ सिलोगो :—

भावार्थः—दीक्षा लेकर छोड़ना, उल्टी किये हुये आहारको खानेके समानहै ॥ ६ ॥ गृहस्थाश्रममें जाने का विचार नरक और तिर्यंचकी गतिमें जाने लायक कर्म बांधने रूपहै ॥ ७ ॥ पुत्र-कलत्रादि मोहके फंदे में बंधे होने पर गृहस्थावासमें, गृहस्थीको धर्म करना दुर्लभहै ॥ ८ ॥ तत्काल नाशक विशुचिकादि रोग धर्मरूपी बन्धु रहित (सहायक विना) गृहस्थका तत्काल नाश करते हैं उसका विचार करना चाहिये ॥९॥ इष्टका वियोग और अनिष्टकी प्राप्तिरूप संकल्प, गृहस्थके लिये दुःखरूप ही होते हैं ॥ १० ॥ गृहस्थाश्रम महाक्लेश वालाहै, जिसमें कृषि (खेती), पशुपालन आदि वाणिज्योंमें पंडितजनों को निंदनीयरूप ठंड, गर्मी, श्रम और उदर-चिंतादि अनेक क्लेश रहतेहैं, ऐसा विचार करना चाहिये. दीक्षा पर्याय इन पूर्वोक्त क्लेशोंसे रहितहै वैसेही आरम्भ, व चिंता रहित और पंडित पुरुषोंको प्रशंसनीय है ॥ ११ ॥ गृहवास बंधन वालाहै, क्योंकि उसमें किये हुये अनुष्ठान (क्रिया व्यापार) बंधनके हेतु भूत हैं. जैसे रेशमका कीडा

अपने किये हुये लांतो में उलझकर बंधजाता है वैसेही गृहस्थी भी अपने किये हुये कर्मोंसे स्वयं बंध जाता है ऐसे समझना चाहिये ॥ चारित्रपर्याय मोक्ष रूपहै क्योंकि उसमें निरंतर कर्म बंधनों से छुटतेहैं, ऐसा विचार करना चाहिये ॥ १२ ॥ गृहस्थ–आश्रम पापवालाहै क्योंकि उसमें प्राणातिपातादि पांच आश्रव सेवे जाते हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ संयम पर्याय निर्दोष है क्योंकि इसमें अहिंसादि व्रतोंका पालन करना पडताहै ऐसा समझना चाहिये, ॥ १३ ॥ गृहस्थियोंके काम–भोग चौर और राजकुलादिके लिये साधारण हैं अर्थात्–प्राप्त हुए विषयोंसे लुटजानेका भय होताहै, कष्ट होताहै, ऐसा विचारना चाहिये ॥ १४ ॥ पुण्य, पाप ये प्रत्येकको अलग २ भोगने को हैं, माता, पिता, पुत्र, कलत्रादिके लिये किये हुए पाप, पुण्यका फल करने वालेकोही स्वयं भोगने पड़ते हैं इसलिये मुझे गृहस्थाश्रमसे क्या प्रयोजनहै? ऐसा विचारना चाहिये, ॥ १५ ॥ अरे! मनुष्योंकी आयु अवश्यमेव अनित्यहै क्योंकि यह डाभकी अणीके ऊपर रहे हुये जलके विन्दुके समान चंचलहै ॥ १६ ॥ अरे! मैंने सचमुच बहुत संक्लेशवाले चारित्र-मोहनीय आदि कर्म कियेहैं, जिससे चारित्र लेनेके बादभी मेरेको ऐसी हल्की बुद्धि उत्पन्न होती है ॥ १७ ॥ अरे! सचमुच पूर्वमें किये हुये ज्ञानाव

र्णीयादिको, तथा अशाता वेदनीयादि पाप कर्मोंको, दुश्चरितोंको तथा मिथ्यात्व, अविरति आदिसे प्राणी वधादि जो कर्म कियेहों उनको भोगे बाद मोक्ष होतीहै, अर्थात्—कर्मोंके भोगे बिना और तपसे खपाये बिना मोक्ष होती नहीं ॥१८॥ यह अठारहवा स्थानहै । इन अर्थोंको प्रति पादन करने वाले श्लोक कहतेहैं:—

मूल सूत्रं—जया य चयई धम्मं, अणज्जो भोगकारणा । से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नावबुज्झइ ॥ १ ॥ जया ओहाविओ होइ, इंदो वा पडिओ छमं । सव्वधम्मपरिब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥ २ ॥ जया अ वंदिमो होइ, पच्छा होइ अवंदिमो । देवया व चुआ ठाणा, स पच्छा परितप्पइ ॥ ३ ॥ जया अ पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो । राया व रज्जपब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ४ ॥ जया अ माणिमो होइ, पच्छा होइ अमाणिमो । सिट्ठि व्व कब्बडे छूढो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ५ ॥

भावार्थ.—इन अठारह कारणोंके असंयमसे पीछे हटनेके हेतु होते हुएभी जो अनार्यके समान चेष्टा करने वाला साधु विषयोंके लिये यति धर्मका त्याग करताहै, वह विषयोंमें मूर्च्छाको प्राप्त बाल भविष्यकालको अच्छी तरहसे नहीं जानताहै ॥ १ ॥ जैसे इन्द्र अपने विमानकी विभूतिसे भ्रष्ट होकर नीचे गिरताहै और

पीछे सोच विचार करताहै, वैसेही जब साधु संयमरूपी विभूतिसे पीछे हटकर गृहस्थाश्रममें आता है, और सर्व धर्मसे भ्रष्ट हुए उस साधुके जब मोहादि शांत होते हैं तब वह इस प्रकार अनुताप (पश्चात्ताप) करताहै कि हा! यह मैंने क्या दुष्ट कार्य किया? ॥ २ ॥ पहले श्रमण पर्यायमें राजादिसे वंदनीय होकर फिर दीक्षा त्याग करनेके बाद अवंदनीय होताहै, तब जैसे अपने स्थानसे भ्रष्ट हुआ देव पश्चात्ताप करताहै, वैसेही वह पश्चात्ताप करताहै ॥ ३ ॥ जब साधुपने में पूजनीक होकर पीछे दीक्षाका त्याग कर अपूजनीक होताहै, तब जैसे राज्यसे भ्रष्ट हुआ राजा पिछले वैभवोंको याद करके पश्चात्ताप करताहै, वैसेही वह साधुभी पश्चात्ताप करताहै ॥४॥ जैसे किसी नगरके माननीय धनी सेठको किसी क्षुद्र ग्राममें डालाहो और वहां अपमान होनेसे वह जैसे पश्चात्ताप करताहै, वैसेही जो साधु संयम अवस्थामें अभ्युत्थान, आज्ञा करनादि से माननीय होकर पीछे दीक्षा त्याग करनेसे अपमाननीय होताहै तब वह फिर पश्चात्ताप करताहै ॥ ५ ॥

मूल सूत्रं—जया अ थेरओ होइ, समइक्कंतजुव्वणो। मच्छु व्व गलं गिलित्ता, स पच्छा परितप्पइ ॥ ६ ॥ जया अ कुकुडुंवस्स, कुतत्तीहिं विहम्मइ। हत्थी व बंधणे बद्धो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ७ ॥ पुत्तदारपरी-

किन्नो, मोहसताणसंतओ। पंकोसन्नो जहा नागो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ८ ॥ अज्ज आहं गणी हुंतो, भावि-अप्पा बहुस्सुओ। जइऽहं रमतो परिआए, सामन्ने जिणदेसिए ॥ ९ ॥ देवलोगसमाणो अ, परिआओ महे-सिण। रयाणं अरयाण च, महानरयसारिसो ॥ १० ॥

भावार्थ.—लोहेके काँटेके ऊपर रखेहुए मांसको खानेकी अभिलापासे जालमें फंसा हुआ मच्छ तालु छेदित होजानेसे जैसे पश्चात्ताप करताहै, वैसेही दीक्षाका त्याग करने वाला साधु युवावस्थाका उल्लंघन कर जब वृद्धावस्थाको प्राप्त होताहै तब कर्मके विपाकको भोगता हुआ कर्मरूप कांटेसे विंधकर वह पश्चात्ताप करताहै ॥ ६ ॥ जैसे बंधनमेंसे बंधा हुआ हाथी पश्चात्ताप करताहै, वैसेही दीक्षा त्याग करने बाद खराब कुटुम्बकी संताप कराने वाली चिंतासे दुःखित हुआ साधु पीछेसे पश्चात्ताप करताहै ॥ ७ ॥ जैसे कीचडमें फसा हुआ हाथी पश्चात्ताप करताहै, वैसेही दीक्षा त्यागनेके बाद साधु पुत्र, स्त्री, आदिके प्रपंचमें पडकर तथा कर्म प्रवाहसे घिराहुआ होकर पश्चात्ताप करताहै ॥ ८ ॥ कोई बुद्धिमान् साधु इस प्रकार पश्चात्ताप करताहै कि जो में भावित-आत्मा और बहुश्रुत होकर जिनेश्वर भगवान्के कहेहुए श्रमण-संबंधी पर्यायमें स्थिरता पूर्वक

रहा होता तो आज मैं आचार्य पदको प्राप्त होता ॥ ९ ॥ दीक्षा (चारित्र)में आसक्त महात्माओंको यह चारित्र पर्याय देवलोक समान लगती है, वही दीक्षा पर्याय संयममें प्रीति विना तथा विषयोंमें इच्छा वालेको नरक समान लगती है ॥ १० ॥

मूल सूत्रं—अमरोवमं जाणिअ सुक्खमुत्तमं, रयाण परिआइ तहाऽरयाणं। निरओवमं जाणिअ दुक्खमुत्तमं, रमिज्ज तम्हा परिआइ पंडिए ॥ ११ ॥ धम्माउ भट्ठं सिरिओ अवेयं, जन्नग्गि विज्झाअमिवऽप्पतेअं । हीलंति णं दुव्विहिअं कुसीला, दाढुड्ढिअं घोरविसं व नागं ॥ १२ ॥ इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती, दुन्नामधिज्जं च पिहुज्जणम्मि । चुअस्स धम्माउ अहम्मसेविणो, संभिन्नवित्तस्स य हिट्ठओ गई ॥ १३ ॥ भुंजित्तु भोगाइं पसज्झ चेअसा, तहाविहं कट्टु असंजमं वहुं । गइं च गच्छे अणभिज्झिअं दुहं, वोही अ से नो सुलहा पुणो पुणो ॥ १४ ॥ इमस्स ता नेरइअस्स जंतुणो, दुहोवणीअस्स किलेसवत्तिणो । पलिओवमं झिज्झइ सागरोवमं किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं ॥ १५ ॥

भावार्थः—चारित्र पर्यायमें रत हुये साधुको देवतासमान उत्तम सुख जानकरके तथा चारित्र पर्याय में प्रीति

विना वालेको नरक समान अत्यंत दुःख जानकर, पंडित पुरुषोंको दीक्षा पर्याय में आसक्त होना चाहिये ॥ १२ ॥ चारित्र छोडने वालेको, इसलोकमें होनेवाले दोष–चारित्र–धर्मसे भ्रष्ट हुए और तप रूप लक्ष्मी से रहित दुष्ट व्यापार करने वालेको जैसे यज्ञकी आग बुझ जानेपर उस राखकी लोग कदर्थना करते हैं– पगके नीचे कुचलते हैं तथा जैसे घोर विषवाले सर्पकी दाढ निकालनेके बाद लोग उसकी हीलना करते हैं, वैसेही दीक्षासे भ्रष्ट हुयेकी लोग हीलना (तिरस्कार) करते हैं ॥ १२ ॥ इस लोक तथा परलोक में होनेवाले दोष–धर्मसे भ्रष्ट हुयेको इस लोकमें अधर्म (लोग उसे अधर्मी कहकर बुलाते हैं), अपकीर्त्ति प्राप्त होती है और सामान्य नीच मनुष्योंमें भी वह खराब नामसे बोला जाताहै (निंदा पाता है), वैसेही धर्मसे भ्रष्ट हुआ वह व्रत खंडन कर अधर्म सेवनेसे क्लिष्टकर्म बांधनेसे नरककी गतिमें जाताहै ॥ १३ ॥ चारित्र का त्याग करने वाला वह धर्मसे निर्पेक्ष होकर, विषय भोगकर और अनेक प्रकार के आरंभादि बहुत असयम करके, विशेष दुःखवाली अनिष्ट गतिमें जाताहै, उसको सम्यक्त्व कदापि सुलभ नहीं है, अर्थात्–वह दुर्लभ–बोधि होताहै ॥ १४ ॥ दुःख आनेपरभी चारित्र नहीं छोडना चाहिये–हे जीव ! नरक प्राप्त होनेपर

नारकीका दुःखसे भरा हुआ और एकांत क्लेशवाला पल्योपम और सागरोपमका आयुष्य भी पूरा होजाताहै तो इस संयम में अरतिसे उत्पन्न मनसंबंधी दुःख मुझे कितने समय तक रहने वालाहै ? ऐसा विचारकर संयम संवंधी दुःखके कारण से दीक्षाका त्याग नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

मूल सूत्रं—न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ, असासया भोगपिवास जंतुणो । न चे सरीरेण इमेणऽविस्सइ, अविस्सई जीविअपज्जवेण मे ॥ १६ ॥ जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ, चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं । तं तारिसं नो पइलंति इंदिआ, उविंति वाया व सुदंसणं गिरिं ॥ १७ ॥ इच्चेव संपास्सिअ वुद्धिमं नरो, आयं उवायं विविहं विआणिआ । काएण वाया अदु माणसेणं, तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमाहिट्ठिज्जासि ॥ त्ति वेमि ॥ १८ ॥ इअ रइवक्का पढमा चूला समत्ता ॥ १ ॥

भावार्थः—ऊपर की वात विस्तारसे कहते हैं–संयममें अरति वाला दुःख मुझे वहुत समय तक नहीं रहेगा, क्योंकि प्रायः विषयकी तृष्णा प्राणियोंको यौवनावस्था तकही रहती है इसलिये विषयकी तृष्णा अशाश्वती है, कदाचित् वृद्धावस्था तकभी इस शरीरकी विषय तृष्णा नहीं जाय तो भी मनमें आकुल नहीं

होना चाहिये, क्योंकि मृत्यु होगी तबतो विषय इच्छा चलीही जायेगी ॥ १६ ॥ ऐसे दृढ़ विचार वालेको फल बताते हैं—जो साधुकी आत्मा ऐसे दृढ़ विचार पर आई हुई है कि किसीभी प्रकारका संयममें विघ्न आने पर देहका त्यागकरना परन्तु धर्मकी आज्ञाका त्याग नहीं करना, तो ऐसे निश्चय वाले महात्माको इन्द्रियोंका विषय संयम स्थानसे नहीं हिला—डुला सकता, इसअर्थमें दृष्टांत कहतेहैं—उत्पात कालका तूफानी वायु चल रहाहो तो भी मेरु पर्वतको नहीं हिल सकता, वैसेही उस दृढ निश्चय वाले महात्माको इन्द्रिय रूपी वायु नहीं हिला सकता ॥ १७ ॥ ऊपरकी सर्व बातका उपसंहार कहते हैं—इस अध्ययनमें कहनेमें आये हुये दुःखी जीवित्वादिसे लेकर यथायोग्य ज्ञानादिका लाभ और काल, विनयादि विविध प्रकारके उसके उपायों को, बुद्धिमान् साधुको विचार करके मन, वचन और काया इन तीनों गुप्तियोंसे गुप्त होकर तीर्थंकर महाराज के कहे हुये उपदेशका यथाशक्ति पालन करनेमें तत्पर होना चाहिये ॥ १८ ॥ इति प्रथम चूलिका ॥

॥ अह विवित्तचरिया बीआ चूलिआ ॥

मूल सूत्र—चूलिअ तु पवक्खामि, सुअं केवलिभासिअं। जं सुणित्तु सुपुण्णाणं, धम्मे उप्पज्जए मई ॥ १

अणुसोअपट्ठिअ बहुजणम्मि, पडिसोअलद्धलक्खेणं। पडिसोअमेव अप्पा, दायव्वो होउकामेणं ॥२॥ अणुसोअसुहो लोओ, पडिसोओ आसवो सुविहिआणं । अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥३॥ तम्हा आयार परक्कमेणं, संवरसमाहिवहुलेणं । चरिआ गुणा अ नियमा, अ हुंति साहूण दट्ठव्वा ॥ ४ ॥ अणिएअवासो समुआणचरिआ, अन्नायउंछं पइरिक्कया अ। अप्पोवही कलहविवज्जणा अ, विहारचरिआ इसिणं पसत्था ॥५॥

अथ विविक्त चर्या नामक दूसरी चूलिका

भावार्थः—पूर्व चूलिकामें संयम मार्गसे विचलित साधुको स्थिर होनेका उपाय बतायाहै, इस चूलिका में विहार संबंधी विषय कहनेमें आवेगा. मैं चूलिका का व्याख्यान करूंगा, वह चूलिका श्रुतज्ञानहै और केवली भगवान्‌की कहीहुई है, इस विशेषणके लिये परम्परासे वृद्ध संप्रदायका ऐसा कहनाहै कि किसी साध्वीने एक साधुसे जो क्षुदाको सहन नहीं कर सकता था आग्रह पूर्वक चौमासा आदि पर्वमें उपवास कराया. वह साधु आराधनाकरके रात्रिमें मृत्युको प्राप्तहुआ. साध्वी यह समाचार सुनकर पश्चात्ताप करने लगी कि मुझसे साधुकी हत्या होगई, इस हेतु उद्वेगको प्राप्त उस साध्वीको ऐसा विचार हुआ कि इस वातका निर्णय तीर्थंकर भग-

वान्से पूछकर करूं कि साधुकी हत्या मुझे लगी या नहीं, ऐसे उसके विचारको अनुसरणकर उसके गुणोंके आधीन हुए देवता उस साध्वीको यहांसे श्री सीमंधर स्वामी तीर्थंकरके पास महाविदेह क्षेत्रमें लेगये। उसे उसके सवधमें पूछनेपर तीर्थंकरसे उत्तर मिला कि तुम्हारे परिणाम शुद्ध होनेसे उस साधुकी मृत्युका पाप तुम्हें नहीं लगा, तुम शुद्धहो, ऐसा कहकर दो चूलिकायें दी, जिन चूलिकाओंका व्याख्यान चलताहे इस हेतुसे केवल ज्ञानीकी कही हुई ये चूलिकाहैं, यह विशेषण दिया गयाहे, जिनको श्रवण करनेसे पुन्यवान् मनुष्यको चारित्र धर्ममें श्रद्धा उत्पन्न होती है ॥ १ ॥ बहुत मनुष्य विषय प्रवाहके वेगमें अनुकूल ससार समुद्रकी तरफ गमन करते हैं परतु विषय प्रवाहसे विपरीत संयमकी तरफ लक्ष रखकर मुक्त होनेकी इच्छा रखनेवालेको तो विषय प्रवाहसे प्रतिकूल प्रवर्तन करना चाहिये ॥ २ ॥ जैसे—जल नीचेकी तरफ जल्दी जाताहे, वैसेही—जीवोंको विषयोंकी तरफ प्रवृति करना सुखकारी मालूम होताहे, अर्थात्—अनुकूल प्रवृत्ति सुखसे कीजासकती है, जैसे-समुद्रकी तरफ नीचेमें ढलती हुयी नदीके प्रवाहमें उसके सन्मुख चलना बडी कठिनाईकी बातहे, वैसेही विषयासक्त लोगोंको साधुओंका व्रत पालनेरूप आश्रम, प्रतिश्रोतके समान कठिनहे, विषयमें प्रवृति करने रूप

अनुश्रोतमें नीचेकी ओर चलनेसे संसारकी वृद्धि होती है और उसके त्याग करनेरूप प्रतिश्रोतमें (ऊंचे भागमें) प्रवृत्ति करनेसे संसारका पार पाते हैं ॥ ३ ॥ इस कारणसे ज्ञानाचारादिमें पराक्रम वाले और इंद्रियादि विषयों के विषय संवर वाले तथा बिल्कुल आकुलता रहित साधुको एक स्थानपर हमेशा नहीं रहने रूप चर्या मूल-गुण और उत्तर गुणरूप गुणोंका तथा पिंडविशुद्धि आदि नियमोंका यथा—अवसर पालन करना योग्यहै ॥ ४ ॥ साधुकी चर्या बताते हैं—अनियतवास (एक स्थानपर मर्यादाके उपरान्त अधिक नहीं रहना), अनेक स्थानों से याचना करके भिक्षा ग्रहण करना, निर्दोष उपकरण लेना तथा सेवन करना, अर्थात्— थोडी उपधि रखना और क्लेशका त्याग करना चाहिये, मुनियोंकी यह विहार—चर्या प्रशस्त (वर्णनकरने लायक) है ॥ ५ ॥

मूल सूत्रं—आइन्नओमाणविवज्जणा अ, ओसन्नदिट्ठाहडभत्तपाणे। संसट्ठकप्पेण चरिज्ज भिक्खू, तज्जाय-संसट्ठ जई जइज्जा ॥ ६ ॥ अमज्जमंसासि अमच्छरीआ, अभिक्खणं निव्विगइं गया अ। अभिक्खणं काउस्स-ग्गकारी, सज्झायजोगे पयओ हविज्जा ॥ ७ ॥ न पडिन्नविज्जा सयणासणाइं, सिज्जं निसिज्जं तह भत्तपाणं। गामे कुले वा नगरे व देसे, ममत्तभावं न कहिं पि कुज्जा ॥ ८ ॥ गिहिणो वेआवडिअं न कुज्जा, अभिवायणं

वंदणपूअणं वा। असंकिलिट्ठेहिं समं वसिज्जा, मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ॥ ९ ॥ न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहिअं वा गुणओ सम वा। इक्कोऽ वि पावाइं विवज्जयंतो, विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १० ॥

भावार्थः— वह विशेष रूपसे बताते हैं– मुनिको राजकुल और जीमनमें गोचरीके लिये नहीं जाना चाहिये तथा यदि स्वपक्ष (स्वधर्मी श्रावकादि), परपक्ष अन्य दर्शनीके तरफसे अपमान होताहो तो उसकाभी त्याग करना चाहिये, प्राय. देखा जासके ऐसे प्रकाश वाले स्थलसे लाये हुये आहार–पानीको लेना चाहिये तथा अचित्त आहारादिसे भरे हुए बर्तन, कुरछी, हाथ वगेरहसे आहार आदि लेना चाहिये और उसमेंसेभी स्वजाति वाले आहारसे भरे हुये बर्तन, कुरछी, हाथ आदिसे आहारादि लेनेका यत्न साधुको करना चाहिये ॥ ६ ॥ उपदेश अधिकार कहते हैं–साधुको मदिरा और मांसका भक्षण नहीं करना चाहिये, किसी पर द्वेषभी नहीं करना चाहिये, बारम्बार दूध, दही, घृत, मिष्ठान आदि विगयोंका त्याग करना चाहिये, तथा गमनागम होनेपर बारम्बार इरियावहीका प्रतिक्रमण करके काउसग्ग करना चाहिये और स्वाध्याय योग–वाचना, पृच्छना आदिमें प्रयत्न करना चाहिये ॥ ७ ॥ मास कल्प पूरा होनेके बाद विहार करनेके समय श्रावकोंसे ऐसी प्रतिज्ञा

साधुको नहीं कराना चाहिये कि शयन (संथारा), आसन (पट्टे आदि), शय्या (वस्ति), निषिद्या और सज्झाय करनेकी भूमि तथा आहार—पानी वगैरह में जब दूसरी दफे फिरकर आऊंगा तब देना, अभी संभाल कर रखना वगैरह, ऐसी प्रातिज्ञा करानेसे ममत्व बढताहै इसलिये साधुको गांव, श्रावकादि कुल, नगर और देश इत्यादि किसीमें भी ममत्व भाव नहीं करना चाहिये ॥ ८ ॥ उपदेशके अधिकारकोही कहते हैं— साधुको गृहस्थियोंकी वैयावच्च (सेवादि) नहीं करना चाहिये, तथा वचनसे नमस्कार, कायासे वंदना, प्रणाम और वस्त्रादिसे पूजाभी नहीं करनी चाहिये, ऐसा करनेसे गृहस्थियोंके साथ सम्बन्ध होनेसे चारित्र—मार्गसे भ्रष्ट होते हैं और दोनोंका अकल्याण होताहै, इस कारणसे जिस तरह चारित्रकी हानि न हो वैसे असंक्लिष्ट परिणाम वाले साधुओंके साथ रहना चाहिये ॥ ९ ॥ यदि ज्ञानादि गुणोंसे अधिक अथवा अपने जैसे गुणवाला परिपुर्ण सहायक साधु नहीं मिले और शरीरकी शक्ति ठीकहो तो पापके कारणभूत असद् अनुष्ठानोंका त्याग करके और कामादिमें आसक्त नहीं होते हुए अकेलाही विहार करना चाहिये परन्तु पास्थादि भ्रष्टाचारी पाप—मित्रोंकी संगतमें नहीं कहना चाहिये ॥ १० ॥

मूल सूत्रं—संवच्छरं वाऽवि परं पमाणं, बीअं च वासं न तहिं वसिज्जा। सुत्तस्स मग्गेण चरिज्ज भिक्खू, सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥ ११ ॥ जो पुव्वरत्तावररत्तकाले, संपिक्खइ अप्पगमप्पगेणं। किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥ १२ ॥ किं मे परो पासइ किंच अप्पा, किं वाऽहं खलिअं न विवज्जयामि। इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो, अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥ १३ ॥ जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं, काएण वाया अदु माणसेणं। तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा, आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ॥ १४ ॥ जस्सेरिसा जोग जिइंदिअस्स, धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्च। तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी, सो जीअई संजमजीविएणं ॥ १५ ॥ अप्पा खलु सययं रक्खिअव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं। अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ॥ त्ति बेमि ॥ १६ ॥ इअ विवित्तचरिआ बीआ चूला समत्ता ॥

॥ इइ सिरि दसवेआलिअं सुत्तं समत्तं ॥

भावार्थः—विहारके कालका नियम बताते हैं:—वर्षाऋतुमें साधुको एक स्थान पर चार मास रहना चाहिये और बाकी समयमें एक स्थानमें एक मास कल्प करना चाहिये, जिस स्थान पर एक चौमासा अथवा एक

मास कल्प किया हो उस स्थान पर आंतरे बिना चौमासा अथवा मास कल्प नहीं करना चाहिये परन्तु दूसरा अथवा तीसरा चौमासा तथा दूसरा अथवा तीसरा मास कल्प बीते बाद वहां रहना कल्पताहै, अपवादादि अथवा किसी बडे कारणसे एक स्थान पर ज्यादा रहना हो तो महीने २ उपाश्रय अथवा कोना बदल कर रहना चाहिये, ऐसा नहीं करनेसे गृहस्थियोंके प्रसंगसे चारित्रसे भ्रष्ट होने तकके दोष उत्पन्न होते हैं, अधिक क्या कहें ? जैसे सूत्रका अर्थ आज्ञा देवे और उसपर विरोध नहीं आवे, उस रीतिसे साधुको सूत्र के मार्गपर चलना चाहिये ॥ ११ ॥ विविध प्रकारकी चर्यावाले साधुको संयममें नहीं सीदाने (शिथिल नहीं) होनेके उपायः— साधुको रात्रिके आरंभिक और अंतिम प्रहरमें अपनी आत्माकी खोज करनी चाहिये, शक्तिके अनुसार तपस्यादि क्या २ धर्म कार्य मैंने किये, और मेरे करने लायक कार्य कौन २ से हैं और मुझसे बन सके वैसे वैयावच्चादि कौन २ से कार्य मैं नहीं करता हूँ ? इत्यादिके संबंधमें साधुको बहुत गहरा विचार करना चाहिये ॥ १२ ॥ स्वपक्षी तथा परपक्षी मेरे किन २ अवगुणों को देखते हैं ? अथवा चारित्रमें विराधना प्राप्त करता हुआ मैं स्वयं देखता हूँ अथवा मैं चारित्रमें स्खलना प्राप्त करताहूँ परन्तु किस वजहसे त्याग नहीं

कर सकता ? इस प्रकार जो कोई भी साधु अच्छी तरह-विचार करेगा तो वह भावी (अनागत) काल-संबंधी प्रतिवधको नहीं करेगा, अर्थात्-इस तरह विचारते हुये फिर वैसे दोष नहीं आचरेगा ॥ १३ ॥ किसी भी संयम स्थानके अवसर पर मन, वचन, कायासे होती हुयी खराब व्यवस्था देखने में आवे तो बुद्धिमान् साधुको अपनी भूल तत्काल सुधारना चाहिये, उसपर दृष्टांत बताते हैं-जैसे जातिवान् घोडा जल्दी ही नियमित्त गतिको अगीकार कर लेताहै, वैसेही साधुको भी दुःप्रयोगोंका त्याग करके सम्यग् विधिको शीघ्र अगीकार करलेना चाहिये ॥ १४ ॥ जितेंद्रिय, संयममें धैर्यवान्, और महा पुरुष साधु अपने हितको विचारनेकी, देखनेकी प्रवृत्ति वाले मन, वचन, कायाके योगोंमें निरंतर सावधान रहताहै ऐसे साधुको लोग प्रतिबुद्ध जीवी कहते हैं, अर्थात्-दीक्षाके दिनसे लेकरके मरण पर्यंत प्रमाद रहित जीनेवाला कहतेहैं और वैसे गुण वाला साधु जीवितव्य गुण प्राप्त करके जीताहै. दशवैकालिक शास्त्रका उपसंहार कहते हुये उपदेशको बताते हैं ॥ १५ ॥ सर्व इन्द्रियोंके विषय व्यापारकी निवृत्ति करके परलोकके कष्टसे स्वात्माकी रक्षा निरंतर करनी चाहिये, जो तुम इन्द्रियोंके विषयसे आत्माकी रक्षा नहीं करोगे तो भव-भव (वारम्बार) संसारमें फिरना पडेगा और

यदि अप्रमादी होकर आत्माकी रक्षा करोगे तो शारीरिक तथा मानसिक सर्व दुःखोंसे तुम मुक्त होवोगे, ऐसा मैं तुमसे कहता हूँ ॥ १६ ॥ यह विविक्त चर्या नामक दूसरी चूलिका सम्पूर्ण हुई ॥ २ ॥

॥ इति श्री दशवैकालिक सूत्र हिंदी भावार्थ साहित सम्पूर्ण ॥

॥ अथ श्रीदशवैकालिक सूत्र की सज्झाय प्रारभ्यते ॥



अथ प्रथम अध्ययन की सज्झाय (१) दीवाली दिन आवीओ ॥ ए देशी ॥

धरम मंगल महिमा नीलो, धरम समो नहीं कोय। धरम शुद्धे नमे देवता, धर्मे शिव सुख होय ॥ ध० ॥ १ ॥ जीवदया नित्य पालीए, संजम सत्तर प्रकार। बारे भेदे तप तपे, धरम तणो ए सार ॥ ध० ॥ २ ॥ जिम तरुवरने फूलड़े, भमरो रस ले जाय। तिम सन्तोपे साधु आत्मा, जिम फूलने पीड़ा न थाय ॥ ध० ॥ ३ ॥ ईण विध विचरे गौचरी, वेहेरे शुद्ध आहार। ऊंच नीच मध्यम कुले, धन्य धन्य ते अणगार ॥ ध० ॥ ४ ॥ मुनिवर मधुकर समकक्षा, नहीं निसराय नहीं दोप। लाधे भाडो दे देहने, अण लाधे सन्तोप ॥ ध० ॥ ५ ॥ अध्ययन पहिले दुम्मपुप्फीया, सखरो अरथ विचार। पुन्यकलश शिष्य जयतसी, धर्मे जय जयकार ॥ ध० ॥ ६ ॥ इति प्रथम अध्ययनकी सज्झाय ॥ १ ॥

अथ दूसरे अध्ययन की सज्झाय (२) कपूर हुवे अति उजलोरे ॥ ए देशी ॥

दीक्षा दोहली आदरीजी, काम भोग फल छांडि। सकल पड़सी दुःख पग पगे जी, वैरागे रंग मांडि ॥ १ ॥ मुनीसर धन्य धन्य ते अणगार ॥ भोग तजी जोग आदरे जी, तेहनी हुं वलिहार ॥ मु० ॥ मन वाले भूल्यो चूकतो जी, मकरे ढील लिगार। जाणे न को जग केहनोजी, कुण हुं कुण ते नार ॥ मु० ॥ २ ॥ करी आतापना आकरी जी, कोमल न करे देह। राग द्वेष तजी पांडुआ जी, जिम सुख पामे अछेह ॥ मु० ॥ ३ ॥ अग्नि कुण्ड जलते पड़े जी, अगंधन कुलनो साप। वम्यो न वांछे विप वलि जी, तिम कुल अपणे थाप ॥ मु० ॥ ॥ ४ ॥ धिग धिग तूं जस वांछतोजी, वांछे वम्यो आहार। जीवित थी मरणो भलो जी, लाजे न निर्लज लगार ॥ मु० ॥ ५ ॥ नारी सारी पारकी जी, देख देख मत भूल। वायु झकोले तरु पड़ेजी, अथिर हुवे डूलाडूल ॥ मु० ॥ ॥ ६ ॥ जिम हाथी अंकुस वसे जी, थिर ठाम आवे तेम। राजीमती सती बुझियोजी, ठामि आयो रहनेम ॥ मु० ॥ ७ ॥ अज्झयण सामण्णपुव्वीये जी, बीजे एह विचार। पुन्यकलश शिष्य जेतसी जी, प्रणमे सूत्र सुखकार ॥ मु० ॥ ८ ॥ इति दूसरे अध्ययनकी सज्झाय सम्पूर्ण ॥ २ ॥

अथ तीसरे अध्ययन की सज्झाय (३) प्रणमुं श्रीगुरु पाय ॥ ए देशी ॥

सुधा साधु निग्रन्थ, साधे सुगति नो पथ। आतम संभर्यो ए, सवर आदर्योए ॥ १ ॥ दोषण टाले दीख, तेहने पहवी शीख, वीर जिनवर कहेए, मुनिनर सरदहे ए ॥ २ ॥ उद्देशक आदि देई, एहवा पिंड न लेई। कृतकड जाणीयो ए, साहमुं आणीयो ए ॥ ३ ॥ लेवे न रायभत्त, न जीमे एहने पत्त। रायपिण्ड नादरे ए, सिज्यातर परिहरे ए ॥ ४ ॥ राखे न सन्धीराय, दानशाले नवि जाय। वाय न वींजणो ए, रंगे न रींझणो ए ॥ ५ ॥ चोवा चन्दन चम्पेल, तन न लगाड़े तेल। जोवे नहीं आरसीए, ते गुरु तारसीए ॥ ६ ॥ खेले न पासासार, ते किम घोले मार। छत्र नवि शिर धरेए, गृहि सगति हरे ए ॥ ७ ॥ माचा खाट पिलग, तजे चिकित्सा अंग। जुती न पग तले ए, जीव दया पाले ए ॥ ८ ॥ आदरे तीन रतन, छाडे तीन जतन ॥ कोडी कोडी मोलना ए, अगन जल अंगनाए ॥ ९ ॥ मूला आदा कदमूल, सचीत्त बीज फल फूल। तजे जीम सेलडीए, लुंण धूपेण वडीए ॥ १० ॥ वमन विरेचन कर्म, करीने गमावे धर्म। दांते दांतण घसीए, न लगावे मिसीए ॥ ११ ॥ पहिरे नहीं हीर चीर, शोभा न करे शरीर। पीठी न मजणोए, आंखे न आजणोए, ॥ १२ ॥ सूत्रमें

बावन बोल, वरजे साधु अमोल। तप किरिया करीए, पहुंचे शिवपुरी ए ॥ १३ ॥ नामे ए खुडीयर, अज्झयण तीजो सार। अरथ अनेक छे ए, जयतसी मन रूचे ए ॥ १४ ॥ इति तीसरे अध्ययनकी सज्झाय सम्पूर्ण ॥३॥

अथ चौथे अध्ययनकी सज्झाय (४) लाखारी ए देशी ॥

महावीर भाख्यो एम, स्वामी सुधरमा उपदिशे जी ॥ हो मुनिवर महावीर भाख्यो एम, सुण सुण जम्बू तेम, चोथो अज्झयण छ जीवणी जी ॥ सुण० ॥ १ ॥ पृथिवी अप तेउ वाय, वनस्पति त्रस जाणीये जी ॥ पृ० ॥ एहवी छजीवनी काय, हिंसा टाली दया पालीये जी ॥ एह० ॥ २ ॥ महाव्रत पंच सदैव, वलि व्रत छट्ठो पालीये जी ॥ म० ॥ त्रिविध त्रिविध जाव जीव, गरही निंदी पडिक्कमी जी, ॥ त्रि० ॥ ३ शिष्य पूछे लेई दीख, किम चालुं बोलुं किम रहुंजी ॥ शि० ॥ समजावे गुरु शीख, जयणा ए चाले बोलजे जी ॥ स० ॥ ४ ॥ ए जिन शासन सार, प्रथम ज्ञान पछे दया जी ॥ ए जिन० ॥ जीवाजीव विचार, जाणे अनुक्रमे नाणथी जी ॥ जी० ॥ ५ ॥ केवल दंसण नाण, पामे करम खपायने जी ॥ के० ॥ छेहडे लहे सिद्ध ठाण, अजर अमर सुख शासता जी ॥ छे० ॥ ६ ॥ अज्झयण छजीवणी नाम, सुणतां तन मन उल्लसेजी ॥ अ० ॥ सरदहे शुद्ध परिणाम, पुन्यकलश

शिष्य जेतसी जी ॥ सर० ॥ ॥ ७ ॥ इति चौथे अध्ययनकी सज्झाय सम्पूर्ण ॥ ४ ॥

अथ पंचम अध्ययन की सज्झाय (५) पंचमी, तप तुमे करो रे प्राणी ॥ ए चाल ॥

पचम पिण्डेपणा अज्झयणे, उद्देसा वे सार रे। विध तणे आंणी भात पाणी, करो तिरो संसार रे ॥ दीक्षा पालो दोप टालो, धरो ध्यान समाध रे। सूत्र साचो अरथ आछो, भणो वांचो नि साध रे ॥ दीक्षा० ॥ २ ॥ संचरे मुनि गौचरी ने, नगर गाम मझार रे। जीव निहाले द्या पाले, बोले हँसे न लिगार रे ॥ दीक्षा० ॥ ३ ॥ असन पानी खादिम स्वादिम, सुझतां लहे तेह रे। असुझतो मुनि दोप जाणी, कहे न कल्पे एह रे ॥ दीक्षा० ॥ ४ ॥ छ काय मरदी साधु अरथे, कीयो भोजन जेह रे। ते न गरजे यति वरजे, सुवावडी आदि देई रे ॥ दीक्षा० ॥ ५ ॥ पिण्ड निपेध्यां कुल निपेध्यां, तजे भजे निरदोष रे। मुधा दाई मुधा जीवी, घेउं जावे मोक्ष रे ॥ दीक्षा० ॥ ६ ॥ विधे लेवे विधे आलोवे, विधे करे आहार रे। लुखो सुखो अरस निरस, हिले न हिये लिगार रे ॥ दीक्षा० ॥ ७ ॥ काले आवे काले जावे, विचरे नहीं य अकाल रे। कालो काल समाचरे, ते वदु साधु त्रिकाल रे ॥ दीक्षा० ॥ ८ ॥ भात पाणी सयण आसण, छतां न देवे जेह रे। जति रतीत सुं रोस न करे, निन्दे वन्दे सम तेह रे

॥ दीक्षा० ॥ ९ ॥ तपचोरने वयचोर आदिक, हुवे किलविष देव रे । दुरगत दुरलभ बोधि जांणी, धरम मारग सेव रे ॥ दीक्षा० ॥ १० ॥ शिख शिक्षा ग्रहे भीक्षा, ते लहे शिवलोय रे । जयतसी कहे सूत्र मांहे, बोल बहुछे जोय रे ॥ दीक्षा० ॥ ११ ॥ इति पंचम अध्ययन की सज्झाय सम्पूर्ण ॥ ५ ॥

अथ छट्ठे अध्ययन की सज्झाय (६) धारिणी मनावे हो मेघकुमारने जी ॥ ए देशी ॥

वैरागी निरागी हो सुधा साधुजी, दंसण नाण संपन्न । वनवाडी मांहे हो आवी समोसर्या, सुमति गुपति प्रतिपन्न ॥ वैरागी० ॥ १ ॥ मिलि मिलि हो रायराजा ना मुहता, ब्राह्मण क्षत्री लोक । साधुने पूछे हो किम छे थाहरो, आचार गोचर जोग ॥ वै० ॥ २ ॥ मुनिवर पभणे हो मारग साधुनो, कठन आचार विचार । हुवो नवि होसी हो धरमको इणि समो, मुगति तणो दातार ॥ वै० ३ ॥ छ ये व्रत पाले हो छ काय राखतो, नहीं नाहण सिणगार । पलंग निषेध्यां हो गृही भाजन तजे, अकल्प स्थान अठार ॥ वै० ॥ ४ ॥ तेल गुड घी हो स्निधि जे करे, ते गृही नहीं अणगार । नित तप भाख्यो हो एक वार भोजने, वरजे विसन विकार ॥ वै० ॥ ५ ॥ वस्त्र पात्र राखे हो संजम राखिवा, न धरे ममता प्रेम । विभूषण करतो हो करे बंध चिकणो, अकल्प कल्पे

केम ॥ वे० ॥ ६ ॥ जीव दया पाले हो पग पग दिन समे, वरजे रात्री विहार। एक काय हणतो हो त्रस थावर हणे, लहे दुर्गति अवतार ॥ वे० ॥ ७ ॥ तप जप करणी हो दुःख हरणी करे, निरमम निरहंकार। सवेगी सोभागी हो चन्द जिम निरमलो, पहोंचे मुगति मझार ॥ वे० ॥ ८ ॥ छट्ठो अतिमीठो हो लागे वांचतां, भलो धरमारथ काम। नामे सुख पामे हो जयतसी आतमा, उल्लसे मन परिणाम ॥ वे० ॥ ९ ॥ इति ॥ छठे अध्ययन की सज्झाय सम्पूर्ण ॥ ६ ॥

अथ सातवें अध्ययन की सज्झाय (७) विणजारा नी देशी ॥

साधु बुझे रे, भाषा सुमति विचार, भाषा चिहुं भेदे कही, साधु बुझे रे। साधु बुझे रे, सचा असचा मीश्र, असचामोस चोथी सही, साधु बुझे रे ॥ १ ॥ साधु बुझे रे, बोले निरवद्य वाण पहेली ने चौथी वली, साधु बुझे रे ॥ साधु बुझे रे, भाषे न भाषा दोय, बीजीने तीजी टली, साधु बुझे रे ॥ २ ॥ साधु बुझे रे, निश्चे कठिन कठोर, संकित सावद्य संभये, साधु बुझे रे ॥ साधु बुझे रे, जिणथी लागे पाप, तेहवी वाणी न बोलिये, साधु बुझे रे ॥ ३ ॥ साधु बुझे रे, चोरने न कहे चोर, न कहे कांणो कांणा भणी, साधु बुझे रे ॥ साधु बुझे रे, पर पीडा हुवे

जेण, वाणी तेह न बोलावणी, साधु बुझे रे ॥ ४ ॥ साधु बुझे रे, न कहे असाधुने साधु, साधुने साधु बोलाविजो, साधु बुझे रे। साधु बुझे रे, सुरनर तिरिहा जीव, कहीं भी दोप म लावजो, साधु बुझे रे ॥ ५ ॥ साधु बुझे रे, वकसुधी अज्झयण, बोल घणां छे सातमें, साधु बुझे रे ॥ साधु बुझे रे, लागे तिणथी दोप, न पडे तू इण वात में, साधु बुझे रे ॥ ६ ॥ साधु बुझे रे, दशविध बोले साच, अरिहंत आज्ञा छे इसी, साधु बुझे रे ॥ साधु बुझे रे, पुन्यकलश गाणि शिष्य, सूत्ररागी भणे जैतसी, साधु बुझे रे ॥ ७ ॥ इति सातवें अध्ययनकी सज्झाय सम्पूर्ण ॥ ७ ॥

अथ आठवें अध्ययन की सज्झाय ॥

पुरोहितीयारी। प्राणी थारो आउखो तूटाने सांधो कोई नहीं रे ॥ ए देशी ॥

श्रीजिनवर गणधर मुनिवर ने कहे रे, हिंसा टालीने दया पाल रे। जूजूवा जीव जाणी छ कायना रे, पग पग जयणा करी चाल रे ॥ श्रीजि० ॥ १ ॥ टाले मुनि सूक्ष्म आठ विराधना रे, छोडी मद मच्छर परमाद रे। तप जप खप करी काया सोखवी रे, जीपे इन्द्रिय विषय स्वाद रे ॥ श्रीजि० ॥ २ ॥ जरा जां न करे देहिजोजरी रे, न वधे रोगपीडा घट मांहि रे। इंद्रिय हीण न पडे ज्यां लगी रे, त्यां लगे करे धर्म उच्छांहि रे ॥ श्रीजि०

॥ ३ ॥ क्रोधे वेर वधे घटे प्रीतडी रे, माने विणसे विनयाचार रे। माया मित्राई वाले सरगमें रे, लोभे विणशे सव संसार रे ॥ श्रीजि० ॥ ४ ॥ ज्योतिष निमित्त सुहणां फल कहे रे, यन्त्र मन्त्र झाडा झुडी देही रे। कांमण टुमण ओषध केलवी रे। किम तरशेने तारशे केम रे ॥ श्रीजि० ॥ ५ ॥ चित्र भींत न जोवे नारी चीतर रे, वाले लोचन जिम रवि तेज रे। हीणी खीणी वली सौ वरसनी रे, तिहां पिण व्रतधर न धरे हेज रे ॥ श्रीजि० ॥ ६ ॥ कुकडी घचडा डरे बिल्ली थकी रे, ब्रह्मचारी नारी सु तेम रे। शिणगार शोभा पटरस खाईवा रे, ताल-पुट जहर करे जेम रे ॥ श्रीजि० ॥ ७ ॥ वसहि सयणासण पायपुंछणो रे, पडिलेहण ले लेवा जोग रे। धन्य धन्य मुनि ते चन्द सुरज समा रे, लहे सुख इहलोकने परलोक रे ॥ श्रीजि० ॥ ८ ॥ आचार पिणही नाम अज्झयणमें रे, आठमें सखर आचार विचार रे। सिद्धात साखे भाखे जयतसी रे, सूत्र थी हो जो मुज निस्तार रे ॥ श्रीजिन० ॥ ९ ॥ इति आठवें अध्ययनकी सज्झाय सम्पूर्ण ॥ ८ ॥

अथ नवम अध्ययनकी सज्झाय (९) ओलंगडी २ सहेली श्री श्रेयांसनी रे। पहनी चाल छे ॥

ओलंगडी २ करजे गीतारथ गुरु तणी रे, मान मोड़ मद छोड़। आसातना टाली नमीये पूजीये रे,

वंदीये वेकर जौड ॥ ओ० ॥ १ ॥ सिद्धांत २ सुणावे सखरा वांचने रे, वुझे अरथ विचार। चन्द सूरज २ जिम गुरु सेवियेरे, विनय करी वार वार ॥ ओ० ॥ २ ॥ नवमें २ विनय समाहि अज्झयण में रे, नवा नवा अरथ विचार। उद्देसे २ चौथे थिवर वर्णव्यां रे, समाधि थांनक चार ॥ ओ० ॥ ३ ॥ पहिली २ विनय समाधि विधि भली रे, वीजी सूत्र समाधि। तीजी तप २ चौथी समाधि आचारनी रे, चार चार भेद आराधि ॥ ओ० ॥ ४ ॥ समाधि २ आराधे ते सुख सिद्धि लहे रे, पामे अमरपद टेव। वेकर जोडीने वांदे जयतसी रे, गुण-वन्त श्री गुरुदेव ॥ ओ० ॥ ५ ॥ इति नवम अध्ययन की सज्झाय सम्पूर्ण ॥ ९ ॥

अथ दसवें अध्ययन की सज्झाय (१०) राग मल्हार ॥

अरिहंत वचने दीक्षा आदरी जी, नारी वमन रस सुजाण। दशमो भिक्षु नाम अज्झयणमें जी, वम्यो न वांछे जाण ॥ अरि० ॥ १ ॥ पृथिवीने खीणे खीणावे नहीं जी, पीये न पावे शीत नीर। जाले न जलावे तेउकायने जी, वीजे न वीजावे समीर ॥ अ० ॥ २ ॥ छेदे न छेदावे तरु हरिकायने जी, वरजे वीज सचित्त। पचे न पचावे भोजन रसवती जी, त्रस थावर वध चित्त ॥ अरि० ॥ ३ ॥ पांच व्रत पाले पांच इन्द्री दमे जी,

गाम कटक सहे धीर। रहे शमसाणे पडिमा पडिवजे जी, तजे प्रतिबंध शरीर ॥ अ० ॥ ४ ॥ राग द्वेष मद मच्छर माया परिहरी जी, न करे विणज व्यापार। तजे तमासा हासी मश्करी जी, वांछे नहीं सत्कार ॥ अरि० ॥ ५ ॥ मर्म न दाखे धर्म भाषे भलो जी, वाचे सूत्र सिद्धान्त। आतम ध्याने आतमा उधर्यो जी, पामे परमपद अत ॥ अरि० ॥ ६ ॥ श्रीसयभव गणधर ए रच्यो जी, दशवैकालिक सूत्र। सखर आचार परूप्यो साधुनो जी, मनक तार्यो निज पूत्र ॥ अरि० ॥ ७ ॥ संवत सत्तरसे सत्तरोत्तर समे जी, वीकानेर मझार। पुन्यकलशगणि शिष्य जयतसी रे, गीत रच्यो सुखकार ॥ अरि० ॥ ८ ॥ इति दशवें अध्ययन की सज्झाय सम्पूर्ण ॥ १० ॥

अथ ग्यारहवीं सज्झाय ॥ धवल करे हिवे केल, अहोनिश कुंवरसुं रे। एहनी चाल ॥

दशवैकालिक सूत्र सुहामणो जी, रच्यो श्री सय्यभव स्वाम। अज्झयण २ व्यालु वेला दश हुवा जी, तिण दियो एहवो नाम ॥ दश० ॥ ऊपर ऊपर चुलिका बे रलियामणी जी, जिम मेरु गिरि शिरचूल। श्री मंधर २ स्वामी भणी जक्षिणी जी, सखर धात समूल ॥ दश० ॥ २ ॥ अठारे २ ठाणां हो पहिली चुलिका जी, जाणे चतुर सुजाण। हय गय २ वाहण रस अंकुश चढे जी, वसी हुवे तिम मुनि ठाण ॥ दश० ॥ ३ ॥

आराति २ निवारे हे विराति आदरे जी, लोंपे नहीं निज लीक। तप जप खप किरिया करे आकरी जी, ते वन्दनीक पूजनीक ॥ दश० ॥ ४ ॥ चुलिका २ बीजी हो बोधबीज सम्पजे जी, बीजी न तीजी बात। मुनिवर समताभर संवरमेंजी, धरमे भीनीसाते धात ॥ दश० ॥ ५ ॥ संवेगी २ सौभागी वैरागी भलाजी, पाले निरमल शील। केवल दंसण वरी भवजल तरीजी, पामे अविचल लील ॥ दश० ॥ ६ ॥ सुणतां भणतां सिद्धान्त बांचतां जी, उलसे अंगोअंग। नव नव मंगल पुन्यकलश सदा जी, जयतसी जय जय रंग ॥ दश० ॥ ७ ॥ इति ग्यारहवीं चूलिका की सज्झाय सम्पूर्ण ॥ ११ ॥

॥ इति श्री दशवैकालिक सूत्र की सज्झाय सम्पूर्ण ॥